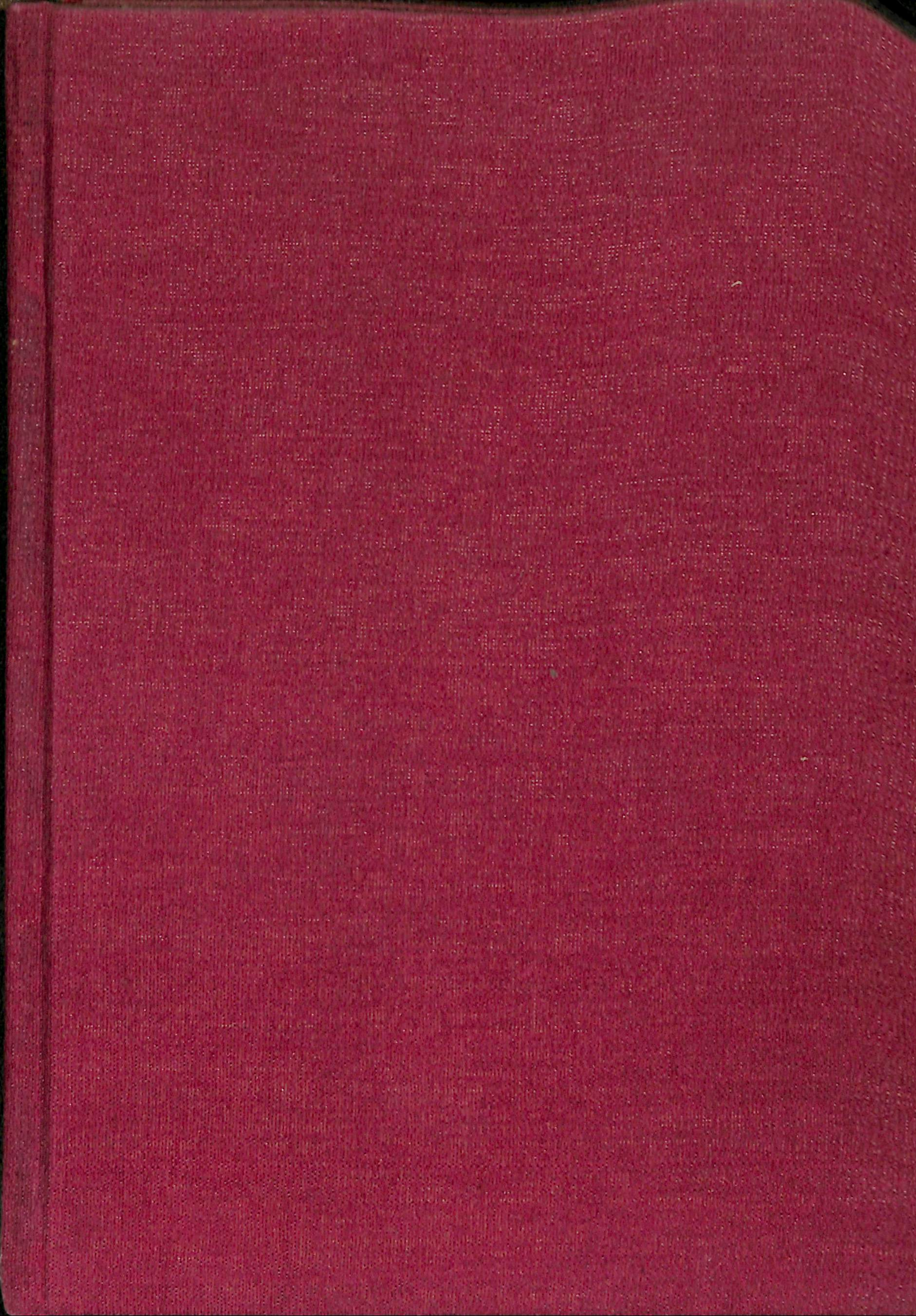
संस्कृत सुधा



डॉ० (श्रीमती) सुधा गुप्ता

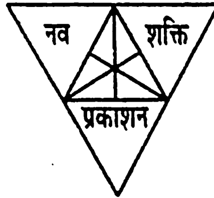


संस्कृत सुधा

लेखिका

डॉ. (श्रीमती) सुधा गुप्ता

एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
जुहारी देवी बालिका स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, कानपुर



नवशक्ति प्रकाशन

चौकाघाट, वाराणसी

वि.सं. २०६७ श.सं. १९३४ खी.सं. २०१२

प्रकाशक :
नवशक्ति प्रकाशन
जे० १३/२४ के० चौकाघाट, वाराणसी-२
दूरभाष : ०५४२-२२०२२३७, ०९९५६०१४७०४

IBSN : 81-87904-18-6

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
श्री सतीश चन्द्र गुप्त
१३३/एन./१०८ 'कामद-कुटी'
किदवई नगर, कानपुर-२०८०११
(यू.पी.), भारत

प्रथम संस्करण : २०१२ ई.
प्रतियाँ : ५००
मूल्य : ३००/-

अक्षर विन्यास :
रमा कम्प्यूटर
तेलियाबाग, वाराणसी

मुद्रक :
प्रभा प्रेस
चौकाघाट, वाराणसी-२
दूरभाष : ०९८३८९२७०९५

अस्मदीयम्

वेद-वेदाङ्ग, दर्शन एवं पुराण-धर्मशास्त्र मेरे चिन्तन-मनन के सदैव केन्द्र रहे हैं। जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति का उपाय हमें इन्हीं में प्राप्त होता है। 'यज्ञ' की परिकल्पना वेदों की विश्व को महतितम देन है, जो कि लौकिकालौकिक अभ्युदय का प्रत्यक्ष साधन है। वेदों की प्रवृत्ति ही यज्ञकर्मार्थ है—**'वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः'**। यहाँ यज्ञ से तात्पर्य त्रिक्सन्निधान से है, जो कि देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप में स्थित है। देवों को हवि प्रदान करना, वेद-मन्त्रों का उच्चारण करना तथा ऋत्विजों को दक्षिणा देना—इन तीनों कार्यों का संयुक्त रूप ही यज्ञ है। ईश्वरीय दिव्य शक्तियों की आराधना उपासना व आवाहन उनकी संगति व समीपता तथा अपना सर्वस्व उनको अर्पण करना ही यज्ञ की आध्यात्मिक प्रक्रिया है और यही विश्व-कल्याण की कुञ्जी है, तापत्रयनिवारण की मूल औषधि है और इहामुत्रार्थ अभीष्ट फलप्राप्ति का सहज सोपान है

'येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णविश्वकल्याणं भजेत्, तद् यज्ञपदाभिधेयम्।'

अथवा

'येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात्, तद् यज्ञपदाभिधेयम्।'

अथवा

'येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात्, तद् यज्ञपदाभिधेयम्।'

वस्तुतः कर्ममात्र यज्ञ है। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त विश्वोत्पत्ति को एक प्रकार का यज्ञकर्म ही बतलाया है। यज्ञ सृष्टि-चक्र का केन्द्र है, कुछ ऐसा ही यजुर्वेद भी कहता है—**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।'** समग्र वैदिक वाङ्मय मुख्य रूप से त्रिधा विभक्त है - ज्ञान, कर्म और उपासना। वेद-प्रतिपादित यज्ञ केवल अग्निहोत्र न होकर ज्ञानयज्ञ के रूप में ज्ञान-विज्ञान को प्रथमतः समझकर कर्मयज्ञ के द्वारा जीवन में चरितार्थ करते हुए उपासना यज्ञ के माध्यम से निःश्रेयसप्राप्ति का उपाय है। यही त्रिक् सन्निधान अभ्युदय व निःश्रेयस् प्राप्ति का वैदिक बीजमन्त्र है।

यज्ञ वृष्टि का भी मूल है। सम्यक् वृष्टि मुदितमन समाज की जनयित्री है और उत्कर्षदायिनी भी है। वैदिक-वृष्टि-विज्ञान, वैदिक वाङ्मय में मनस्तत्त्व, वैदिककालीन पर्यावरण में मानवजीवन तथा नगरवास्तुवीक्षणम्

आदि क्रमशः इसी शृङ्खला की उत्तरोत्तर कड़ियाँ हैं, जो कि ऐहलौकिक अभ्युदय से जुड़ी हैं। आत्मोत्कर्षक स्रोत सूर्य है। प्रत्यक्ष देवता सूर्य की तत्त्वमीमांसा इसी चिन्तन का प्रतिफल है। सम्यक् मीमांसा व्युत्पत्तिमूलक अर्थग्रहण के बिना सम्भव नहीं, जिसके लिए पाणिनीय व्याकरण का ज्ञान अत्यावश्यक है। पाणिनीय व्याकरणस्य प्रक्रियाणां व्यावहारिकज्ञानम्' की कल्पना व्याकरण की महत्ता को दृष्टि में रखते हुए ही साकार हुई है। सन्ततिपरम्परा से सृष्टि-सञ्चालन की साक्षात् उपादानस्वरूपा नारी का जीवन वैदिककाल में कैसा था और आज कैसा है तथा उसे कैसा होना चाहिए ? आदि इन्हीं कुछ प्रश्नों के समाधानार्थ 'वेदों में नारी-जीवन' का प्रणयन हुआ।

दर्शन-सुधा के अन्तर्गत कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा-परिकल्पना से लेकर औपनिषद-वाङ्मीमांसा तक सभी शोधपत्र तत्तत् प्रत्यभिज्ञा (पहचान) के परिणाम हैं। समय-समय पर जिस-जिस विषय पर दृष्टि टिकी और उसका जैसा प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान अन्तःपटल पर उभरा उसी को शब्दों में बाँधने का यह प्रयास मात्र है। कविकुलगुरु महाकवि कालिदास प्रणीत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अभिज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार ने मुझे कालिदास के प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान की गहराई में उतरने को प्रेरित किया, फलस्वरूप 'कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा-परिकल्पना' साकार हुई। वेदान्त दर्शन मुझे अध्ययनकाल से ही प्रिय रहा है। यही कारण है कि वेदान्तदर्शन और पाश्चात्त्य दार्शनिक समीक्षक डॉ० पाल डायसन, वेदान्तविलास दार्शनिक नाट्यपरम्परा में अनूठा प्रयोग, वैदिक अद्वैत दर्शन और Vedanta : Philosophy and Contemporary significance जैसे शोधपत्र लेखनी के विषय बने। संस्कृत एवं शाङ्करी शिक्षा, आयुर्वेदचिकित्साविधाने दर्शनप्राधान्यम् Kundalini Yoga तथा औपनिषद् वाङ्मीमांसा आदि शोधपत्रों के विषय वे बीज-बिन्दु हैं, जिन्होंने कभी मेरी जिज्ञासा को तो कभी मेरी आवश्यकता को कभी बौद्धिक क्षुधा को तो कभी उसके गूढ़ रहस्य को जानने की प्रबल इच्छा को जन्म दिया था। इसी जिज्ञासा, आवश्यकता व क्षुधापूर्ति तथा रहस्योद्घाटन का प्रयास इन शोधपत्रों में प्रतिबिम्बित हुआ है।

पुराण-धर्मशास्त्रसुधा के अन्तर्गत स्मृतियों और मानवाधिकार, भागवतीय वर्णाश्रमधर्म तथा आतङ्कवादस्योन्मूलनार्थं महाभारते निहितशिक्षायाः उपादेयता जैसे विषय आज की परिस्थितिजन्य विभीषिका के परिणाम हैं। मानव के द्वारा मानव के अधिकारों का हनन होते देख ही इस विचार ने

जन्म लिया था कि क्या हमारे धर्मशास्त्रों में इसे रोकने व भ्रातृभाव जगाने का कोई उपाय है ? इसी पृष्ठभूमि में स्मृतियों में मानवाधिकार खोजने का प्रयास है । आज वर्णभेद, जातिभेद; सम्प्रदाय भेद और धर्मभेद के नाम पर भारत की अखण्डता पर हो रहे निरन्तर प्रहार से आहत मन ने श्रीमद्भागवतमहापुराण में वर्णित वर्णाश्रमधर्म की रूपरेखा का विश्लेषण किया और पाया कि भागवतकार ने वर्णाश्रम व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म से जोड़कर पूर्णतया इसे आचरणपरक बना दिया । व्यवस्था बाह्य विषयक होती है, जबकि धर्म पूर्णतया आन्तरिक है, जिसमें हमारी आत्मा और अन्त:करण का पूर्ण सन्निवेश होता है । व्यवस्था से तात्पर्य विशेष रूप से अवस्थित अथवा निर्बाध रूप से स्थिर होना कहा जा सकता है और इस प्रकार यह कारण होने का संकेत देती है, जिससे समूचा कार्य प्रभावित होता है । व्यवस्था दोषपूर्ण हो सकती है, जबकि धर्म में दोष का कोई स्थान नहीं है । कारण, जहाँ दोष है, वहाँ धर्म हो ही नहीं सकता । धर्मसङ्गत कर्म वे ही हो सकते हैं, जिससे आत्मप्रसाद (आत्मा की प्रसन्नता) की उपलब्धि हो

'धर्ममूलं हि ------ येन चात्मा प्रसीदति ।'

कुछ ऐसी ही पृष्ठभूमि में महाभारत में आतङ्कवाद को समूल नष्ट करने का उपाय खोजा । वहाँ भी उन्मूलन का उपाय आचरणपरक ही प्राप्त हुआ और आचरण धर्मसङ्गत ही स्वीकार किया गया । महाभारत में आचरण अथवा कर्म का ऐसा मानक (मापदण्ड) प्रस्तुत किया गया है, जिसे धर्म के सार रूप में जाना जा सकता है—

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।'

इतना ही नहीं महाभारत में तो ऐसा कोई भी विषय या सम्बन्ध नहीं, जिसके धर्म की चर्चा न की गयी हो । इसीलिए तो यह कथन सर्वथा सत्य है कि—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।'

यही कारण है कि सामाजिक समस्याओं के निदान स्मृतियों, महापुराण तथा महाभारत में खोजे । राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत राष्ट्र की भौगोलिक सीमाएँ ज्ञात करने की ईहा 'पौराणिक भूगोल में भारत' शोधपत्र

की जनयित्री बनकर गौरवशाली देश की सीमाओं पर दृष्टिपात करने का कारण बनी। समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रिय-अन्ताराष्ट्रिय शोध सम्मेलनों में प्रस्तुत इन इक्कीस शोधपत्रों में भारत को अन्तः व बाह्य दोनों रूपों में देखने व जानने का यह लघु प्रयास है।

यह जानते हुए भी कि **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' मृत्तिकेत्येव सत्यम्**— श्रुतिवचनानुसार मौलिकता मात्र वाचारम्भण ही है। कारण, नवीनता तो केवल पारमार्थिकता में ही है। उससे इतर समस्त प्रपञ्च पाञ्चभौतिक ही है। पञ्च से अतिरिक्त जब किसी का अस्तित्व ही नहीं, तो फिर नूतन विषय कहाँ हुआ ? लगभग सभी विषयों पर पहले भी न जाने कितनों ने कितना कुछ लिखा। किन्तु, यथा कक्ष में स्थित मूर्ति प्रत्येक चित्रकार की तूलिका से भिन्न कोण को प्रदर्शित करती हुई फलक पर भिन्न रूप में प्रतिबिम्बित होती है, तथैव यह सारस्वत निःस्राव यदि किञ्चित् भिन्न दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर सुधीचेता पाठकों का प्रसाद पाता है, तो यही मेरी सारस्वत-यात्रा का पाथेय होगा।

अन्त में, परोक्षापरोक्ष प्रकार से इस सारस्वत यज्ञ के समस्त सहयोगी सुहृज्जनों के औदार्य के प्रति प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए अत्यन्त स्वल्पबुद्धि के इस स्वल्प प्रयास के प्रति फिर भी आशान्वित हूँ कि नीरक्षीरविवेकी विद्वज्जन इस पर दोषदृष्टि न रखते हुए ही इसे ग्रहण करेंगे। क्योंकि—

'हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रं वर्जयत्यपः।'

सुधा गुप्ता
एसो० प्रोफेसर (संस्कृत विभाग)
जुहारी देवी गर्ल्स पी.जी. कालेज,
कानपुर

संस्कृत सुधा
निबन्धानुक्रमणिका
वेदवेदाङ्ग सुधा

दर्शन सुधा

पुराण-धर्मशास्त्रसुधा



नान्दीवाक्

Prof. Rajendra Mishra
M.A., D.Phil. (Alld.) D Litt (Simla)
Ex.Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi - 221002 (U.P., INDIA)



डॉ. सुधा गुप्ता के शोधालेख-संग्रह **'संस्कृतसुधा'** को पढ़कर हार्दिक परितोष हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ में वेद-वेदाङ्ग, दर्शन एवं पुराण-धर्मशास्त्र शीर्षकों के अन्तर्गत कुल इक्कीस हिन्दी-संस्कृत एवं आंग्ल-भाषोपनिबद्ध शोधालेखों का संग्रह है । आलेखों के विषय-वैविध्य से जहाँ विदुषी लेखिका के स्वाध्याय-विस्तार का संकेत मिलता है, वहीं उसकी विविध भाषा-पारङ्गतता भी उजागर होती है ।

सुधा गुप्ता के आलेखों में विश्लेषणात्मक शैली आकर्षण उत्पन्न करती है । सूर्यतत्त्व-मीमांसा, वृष्टिविज्ञान तथा मनस्तत्त्व से जुड़े निबन्धों में विदुषी की यह विश्लेषणात्मकता दीखती है। औपनिषदिक वाक्-मीमांसा कुण्डलिनीयोग तथा कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा परिकल्पना सरीखे निबन्ध भी गहनविश्लेषण पर ही आधारित हैं। काश्मीर-परम्परा के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की आचार्य-परम्परा में वसुगुप्त, कल्लट, सोमानन्द, उत्पल, लक्ष्मणगुप्त, अभिनव एवं क्षेमराज-शितिकण्ठ आदि आते हैं, जो निश्चय ही कालिदास से प्रभूत उत्तरवर्ती हैं। तो क्या कालिदास के युग (ई०पू० द्वितीय शती) में भी प्रत्यभिज्ञा की अवधारणा काश्मीर में थी ? इस तथ्य को सप्रमाण सिद्ध करना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है । परन्तु विदुषी लेखिका ने अपने प्रमाण-पुष्ट सुलझे विचार रखे हैं ।

डॉ. सुधा के विवरणात्मक एवं संकल्पनात्मक आलेखों में भी मैंने व्याख्या का नयापन देखा है । इनमें से अनेक विषयों पर (पौराणिक भूगोल, स्मृतियों में स्त्री-अधिकार-समीक्षा, वेदान्त में ब्रह्मनिरूपण, वैदिक कवयित्रियाँ दो खण्ड) मैं स्वयं यथावसर लिख चुका हूँ। परन्तु नहीं जानता कि विदुषी ने मेरे आलेखों को पढ़ा है या नहीं ? फिर भी, ये आलेख भावप्रवण हैं, युगानुकूल हैं तथा आज के पाठकों की रुचि एवं सामर्थ्य को दृष्टि में रख कर लिखे गये हैं ।

वस्तुतः शोधालेख किसी भी लेखक अथवा लेखिका की वैदुषी की भूमिका के परिचायक होते हैं । मुझे हार्दिक प्रसन्नता है इस बात से कि संस्कृत के लेखन-क्षितिज पर एक नये भास्वर नक्षत्र का उदय हुआ है, जिसका सुनिश्चित भविष्य है ।

मैं संस्कृतजगत् की ओर से विदुषी डॉ० सुधा गुप्ता के सारस्वत श्रम का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ तथा इन्हें अपनी शुभाशंसा एवं आशीः देता हूँ ।

सस्नेह
प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र

शिमला
७ फरवरी २०१२ ई० ।

प्रो० अशोक कुमार कालिया
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

'श्रीनिवासः'
बी-1/19, कल्याणबिहार
(सेक्टर 'के') अलीगंज,
लखनऊ - 226024
E-mail :a.kalia@rediff.com





मनसा सावधानेन सौधोऽयं संस्कृतात्मकः ।
सुधया सुधिया सृष्टः साधितश्च प्रसाधितः ॥

श्रीमत्या डॉ० सुधागुप्तामहोदयया विरचितं संस्कृत-सुधा-सञ्ज्ञकं निबन्धसङ्ग्रहमतीव मनोयोगेनाऽनुशीलितवानहमस्मि। समये समये लिखिता निबन्धाः प्रायशो लेखकस्य स्वकीयानां विचाराणां स्वीकृतसिद्धान्तानाञ्च न केवलं विकासयात्रामभिव्यञ्जयन्त्यपि तु तस्य लेखकस्य व्यक्तित्वविकासस्याऽपि दर्पणकल्पा भवन्तीति सुतरां वक्तुं शक्यते। संस्कृतसुधानामधेयोऽयं सुधागुप्ता-लिखितनिबन्धानां सङ्ग्रहोऽपि नाऽस्त्यस्यापवादः। विषयवैविध्यसमृद्धः सङ्ग्रहोऽयं (1)वेदवेदाङ्गसुधा, (2) दर्शनसुधा, (3) पुराणधर्मशास्त्रसुधा चेति खण्डत्रये विभक्तोऽस्ति। एवं सङ्ग्रहस्याऽस्य विषय-व्यापकत्वम्, प्रासङ्गिकत्वम्, गाम्भीर्यञ्चाऽवलोक्य वक्तुं शक्यते यदयं सङ्ग्रहः संस्कृताऽध्येतृणा- मवश्यमुपकरिष्यतीति । विदुष्यै लेखिकायै शुभाशंसा विनिवेद्य विरमामि ।

प्रो० अशोक कुमार कालिया



शुभाशंसनम्

डॉ० महावीर अग्रवाल
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-249404

उपाध्यक्ष
उत्तराखण्ड संस्कृत संस्थान
संस्कृत भवन दिल्ली राष्ट्रीय राजमार्ग
हरिद्वार - 249407



यह जानकर अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'

तथा

'काव्यामृतरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते'

इस शाश्वत सत्य को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाली, जुहारी देवी कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कानपुर में संस्कृत की उपाचार्या **डॉ० सुधा गुप्ता** की सारस्वत यात्रा का निस्यन्द **'संस्कृत-सुधा'** शीर्षक से प्रकाशित हो रहा है । राष्ट्रिय-अन्ताराष्ट्रीय शोध-सम्मेलनों में प्रस्तुत तथा देश की प्रसिद्ध शोध-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित वैदुष्य एवं चिन्तनपूर्ण निबन्धों का ग्रन्थ रूप में प्रकाशन प्रशंसनीय कार्य है । मुझे पूर्ण विश्वास है कि वेद, उपनिषद्, दर्शन, आयुर्वेद एवं पुराणसाहित्य रूपी समुद्रमन्थनोत्थ सुधा का आचमन कर सुधी अध्येता प्रसन्न एवं लाभान्वित होंगे ।

मैं ग्रन्थ के प्रकाशन पर डॉ० सुधा गुप्ता को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ प्रदान करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप सदा स्वस्थ एवं प्रसन्न रहते हुए धवल कीर्ति प्राप्त करें और आपकी सारस्वत-साधना निरन्तर चलती रहे ।

मंगलाभिलाषी

प्रो० महावीर अग्रवाल

शिवसङ्कल्पः



परब्रह्मणो मुखनिःसृतत्वाद् वेदोऽपि साक्षाद् भगवान्, यथा वेदानां महत्त्वं तथैव तदङ्गभूतानां व्याकरण-ज्योतिषनिरुक्तादीनां वैशिष्ट्यं वरीवर्ति। वेदानां सुगन्धः साररूपेण भारतीयवैदिकदर्शनेषु समुन्मिषति। साधारणजनानां बोधाय वेदानां विस्ताराय महर्षिणा वाल्मीकिना रामायणं वेदव्यासेन च महाभारतं पुराणानि च व्यरचि। तदनु वैदिकसिद्धान्तान् भावनाश्च धारयन्ति काव्यनाटकादीनि प्रसरन्ति सन्ति। सर्वं स्वशरीरेषु समावेशयत्संस्कृतवाङ्मयं सुविशदं वेदमलयमारुतेन विश्वं पुनाति । अतः शब्दार्थकाव्यशरीरस्य कतमो भागः कमनीयः कतमश्च हेय इत्यवधारयितुं न शक्यते। यथा वेदाङ्गेषु सर्वेषामेवाङ्गानां महत्त्वमस्ति, तथैव संस्कृतवाङ्मयस्य सर्व एव पक्षाः संस्कृतकल्पतरोः शाखाप्रशाखात्वेन शोभन्ते ।

डॉ० सुधा गुप्ता संस्कृतमातुः कतिपयपक्षानङ्गीकृत्य महता परिश्रमेण ग्रन्थमिमं प्रणीतवती । सुनिबद्धनिबन्धमाध्यमेन । अस्य भागत्रयं कल्पितम् । प्रथमे भागे वेदवेदाङ्गसम्बन्धिताः, द्वितीये दार्शनिकाः तृतीये च पुराणधर्मशास्त्रीयाः लेखाः सन्ति। संस्कृत- राष्ट्रभाषांग्लभाषामाध्यमेन निबन्धाः प्रणीता वर्तन्ते । भाषाज्ञानेन सह नैकेषु विषयेषु गाम्भीर्यमस्याः वर्तत इति सा नितरां प्रशंसार्हा ।

डॉ० सुधागुप्तायाः निबन्धानां विश्लेषणात्मकशैली सहजं दृष्टिमावर्जयति । सूर्यतत्त्वमीमांसा-वैदिकवृष्टिविज्ञान-वैदिकमाङ्मयगत-मनस्तत्त्व-प्रभृतिविषयकेषु निबन्धेषु तस्याः विश्लेषणसौष्ठवमवलोकयितुं शक्यते । डॉ० सुधा कर्ममात्रं यज्ञं मन्यते। सा यज्ञं वृष्टेः मूलं स्वीकरोति । एतादृश्यवधारणोपर्युक्तेष्वालेखेषु प्रतिफलन्त्यवलोक्यते। पाणिनीयव्याकरणस्य प्रक्रियाणां व्यावहारिकज्ञानम्' इत्यालेखः व्याकरणस्य महत्त्वं प्रतिपादयति । 'वेद में नारी जीवन' इति निबन्धः सन्ततिपरम्परया सृष्टिसञ्चालने नारीजीवनस्य महत्त्वमुद्घोषयति । दर्शनसुधाशीर्षके कालीदासीयप्रत्यभिज्ञापरिकल्पनातः औपनिषदिकवाङ्मीमांसां यावत् सर्वे शोधनिबन्धाः प्रत्यभिज्ञायाः परिणामाः सन्ति । पुराणधर्मशास्त्रसुधान्तर्गतागतेषु निबन्धेषु डॉ० सुधा पुराणधर्मशास्त्रेषु मानवाधिकारं भारतीयानां व्यवहरणीयमाचारं चान्वेषयति ।

अयं ग्रन्थो विदुषां छात्राणां च महत उपकाराय कल्पिष्यत इति मे द्रढीयान् विश्वासः।

प्रो० गङ्गाधर पण्डा

संस्कृत सुधा

वेदवेदाङ्ग सुधा

यज्ञीय ज्ञानविज्ञान – एक वैदिक दृष्टि

अभ्युदय एवं निःश्रेयस् प्राप्ति के सर्वोत्कृष्ट संसाधन 'यज्ञ' की परिकल्पना विश्व को वेदों की महार्हतम देन है। प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ 'सिद्धान्तशिरोमणि' में वेदों की प्रवृत्ति यज्ञकर्मार्थ बतलायी गयी है— **'वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः'**[१]। अन्यत्र लग्नज्योतिष तथा गोपथ ब्राह्मण आदि भी कुछ इसी प्रकार की बात कहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं — **'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'**[२] तथा **'चत्वारो वै वेदाः तैर्यज्ञैस्तायते'**[३] आदि। स्वयं वेद का मन्त्र भाग भी यही बताता है — **'ब्रह्म (वेदः) यज्ञेन कल्पताम्'**[४]। निरुक्तकार का भी यही कहना है कि — **'यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एते उल्कः। विधाबद्धमन्त्रब्राह्मणकल्पैः'**[५]।

इन सब से इतना तो स्पष्ट ही है कि वेद का विषय **'यज्ञ'** है और वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल उत्स हैं। वेद प्रतिपादित यह **'यज्ञ'** शब्द बहुआयामी व व्यापक अर्थ का द्योतक अपने में न जाने कितने गूढ़ अर्थ संजोए हुए है। वैदिक वाङ्मय में इस 'यज्ञ' के सम्बोधनार्थ पन्द्रह पर्यायवाची प्राप्त होते हैं — **'यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः, विदथः, नार्यः, सवनम्, होत्रा, इष्टिः, देवताता, मखः, विष्णुः, इन्दुः, प्रजापतिः, धर्मः इति पंचदश यज्ञनामानि'**[६]। सात पर्याय तो अमरकोष में ही प्राप्त होते हैं और वे सभी वेदों में व्युत्पत्तिमूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादनार्थ स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हैं — **'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः तन्तुर्मखः क्रतुः'**[७]। संस्कृत की यज् धातु से निष्पन्न इस 'यज्ञ' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ तो देवपूजा, संगतिकरण तथा दान है। जैसा कि मत्स्यपुराण कहता है —

'देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्वजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते॥'

इस प्रकार देवों को हविप्रदान करना, वेद मन्त्रों का उच्चारण करना तथा ऋत्विजों को दक्षिणा देना — इन तीनों कार्यों का संयोग ही यज्ञ है। जहाँ भी उक्त त्रिक् सन्निधान दृष्टिगत हो, वह कर्म यज्ञ ही है, न

कि मात्र अग्नि में आहुति देना। ईश्वरीय दिव्य शक्तियों की आराधना, उपासना व आवाहन, उनकी संगति व समीपता तथा अपना सर्वस्व उनको अर्पण करना ही यज्ञ की आध्यात्मिक प्रक्रिया है। देवतुल्य गुणसम्पन्न सत्पुरुषों की सेवा, संगति एवं सहयोग भी यज्ञ ही है। व्यावहारिक दृष्टि से बड़े अर्थात् श्रेष्ठ जनों का सम्मान, समान आयु वर्ग से संगति तथा कनिष्ठ वर्ग की सहायता ही यज्ञ है और यही विश्व-कल्याण की कुंजी है। तापत्रय (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) निवारण की मूल औषधि है तथा इहामुत्रार्थ अभीष्ट फलप्राप्ति का सहज सोपान है। कहा भी गया कि—

'येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णं विश्वकल्याणं भजेत् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।'

--- --- ---

'येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक-
तापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।'

--- --- ---

'येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्'[८]।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में यज्ञ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यज्ञ उसको कहते हैं, जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता कर के सब जीवों को सुख पहुँचता है, उसको समझता हूँ'। यजुर्वेद भाष्य में भी यज्ञ को महर्षि कुछ इसी प्रकार परिभाषित करते हैं—

'धात्वर्थादृयज्ञार्थस्त्रिधा भवति। विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानं वृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसम्पादनाय सत्करणं सम्यक् पदार्थगुणसम्मेलनविरोध-ज्ञानसङ्गत्या शिल्पविद्या प्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति'[१०]।

वस्तुतः कर्ममात्र यज्ञ है। यजुर्वेद को जो कि यज्ञीय विज्ञान का प्रतिपादक है, 'कर्मवेद' कहा जाता है। यजुर्वेद में यज्ञ से आयु, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, आत्मा, ब्रह्म, ज्योति, स्वः, पृष्ठ आदि की वृद्धि का प्रतिपादन होने से यज्ञ के बहुआयामी

होने का स्पष्ट संकेत मिलता है। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त, जो वाजसनेयी और अथर्ववेद की संहिताओं में भी प्राप्त है,[११] विश्वोत्पत्ति को एक प्रकार का यज्ञकर्म ही बतलाता है। यजुर्वेद में भी कहा गया है कि यह यज्ञ सृष्टि-चक्र का केन्द्र है —

'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'[१२]

और यह यज्ञ देवताओं के द्वारा सम्पादित किया गया — **'यज्ञेन' यज्ञमयजन्त देवाः**[१३]। पण्डित मधुसूदन ओझा के अनुसार एक से अनेक की ओर जाना ही विज्ञान अथवा यज्ञविद्या है— **'एकस्माद् अनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या।'** इसके विपरीत अनेक से एक की ओर जाना ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान है— **'अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणज्ञानं ब्रह्मविद्या'**[१४]। तैत्तिरीय आरण्यक और 'तैत्तिरीय उपनिषद् भी विज्ञान से यज्ञ तथा कर्मों के विस्तार का प्रतिपादन करते हैं[१५] **'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च'**। विज्ञान का कार्य विश्लेषण है और ज्ञान का कार्य संश्लेषण। इसलिए यज्ञविद्या ही विज्ञान का रूप है और ब्रह्मविद्या ज्ञान का। इस प्रकार वेदों से ही विज्ञान के तन्तु कभी यज्ञीय तन्तुओं के रूप में तो कभी कर्मों के विस्तार के रूप में प्रवाहित होते दृष्टिगोचर होते हैं—

'यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुमितस्ततः।'[१६]

वस्तुतः अणु-परमाणु से लेकर सूर्य-चन्द्र तक प्रवर्तित होने वाली प्रक्रिया वैदिक दृष्टि से यज्ञ प्रक्रिया ही है। प्रकृति में प्रतिक्षण होने वाला परिवर्तन एक व्यवस्थित चक्र (Circle) है। इस प्रकृति-प्रवर्तित-चक्र को वेदों में यज्ञ के रूप में देखा गया—

'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥'[१७]

इस यज्ञ में वसन्त ऋतु घृत, ग्रीष्म ऋतु समिधा तथा शरद् ऋतु हव्य है। इसी यज्ञ के आधार पर वर्षचक्र, ऋतुचक्र, मासचक्र, अहोरात्रचक्र, चान्द्रचक्र तथा सौरचक्र आदि सभी प्रवर्तित हैं और यह प्राकृतिक यज्ञ विश्व में प्रतिक्षण निरन्तर चल रहा है व सृष्टि-चक्र अनवरत प्रवर्तित है।

समग्र वैदिक वाङ्मय मुख्य रूप से त्रिधा विभक्त है — ज्ञान, कर्म और उपासना। वेद का विषय **'यज्ञ'** है, जैसा कि मैंने पूर्व में ही स्पष्ट

किया है, अत: यज्ञ केवल अग्निहोत्र ही नहीं है, अपितु ज्ञानयज्ञ में ज्ञान-विज्ञान को प्रथमत: समझ कर कर्मयज्ञ के द्वारा उसे जीवन में चरितार्थ करते हुए उपासना यज्ञ के माध्यम से नि:श्रेयस् प्राप्ति है । **ज्ञानयज्ञ** में सर्वविध प्रमेय परा और अपरा विद्याएँ है, जिनके ज्ञानाभाव में अभ्युदय व नि:श्रेयस सम्भव नहीं और यह वेद ज्ञान सर्वहुत यज्ञ रूप परमेश्वर से हमें प्राप्त है—

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत[१८] ।।'

उनकी कृपा के बिना यह ज्ञानयज्ञ सिद्ध नहीं होता—

'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति[१९] ।' महर्षि दयानन्द ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र — **'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम्'** — में **'यज्ञस्य'** पद की व्याख्या द्वारा इन्हीं उभय विद्याओं के ज्ञानप्राप्ति की बात कहते हैं —

'(यज्ञस्य) इज्यतेऽसौ यज्ञस्तस्य महिम्नः कर्मणो विदुषां सत्कारस्य सङ्गतस्य सत्सङ्गत्योत्पन्नस्य विद्यादिदानस्य शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य वा[२०] ।'

चराचर जगत् का प्रत्येक विषय इन्हीं दोनों विद्याओं में समाहित है । पं०रघुनन्दन शर्मा के शब्दों में — **'ज्ञानयज्ञ'** में यद्यपि तृण से लेकर ईश्वरपर्यन्त का ज्ञान सम्मिलित है, परन्तु मुख्यत: इस ज्ञान के तीन विभाग हैं । प्रथम विभाग में धर्म है । सदाचार, सभ्यता, वर्णाश्रममर्यादा और संस्कार आदि इस धर्म विभाग के अंग है । दूसरा विभाग विद्याओं से सम्बन्ध रखता है । वैद्यक, ज्योतिष, गणित, भूगोल, रसायन, विज्ञान, कला, संगीत आदि इसके अंग हैं । तीसरा विभाग परलोक से सम्बन्ध रखता है । ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्म, कर्मफल, स्वर्ग, नरक, बन्ध और मोक्ष आदि इसके अंग हैं । इन तीनों विभागों को जानना ही **ज्ञानयज्ञ** कहलाता है'[२१] ।

अधीत ज्ञान को आचरण में उतारना ही **कर्मयज्ञ** है । गत्यात्मक जगत् इसी कर्मयज्ञ का प्रतिफल है । शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ को कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै कर्म'**[२२] । महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्भाष्य में अनेकश: 'यज्ञ' को कर्म, क्रिया तथा कर्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है —

(यज्ञम्) शिल्पविद्यामहिमानं कर्म च।[२३] **(यज्ञे) सङ्गते कर्त्तव्ये।**[२४] **(यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधं क्रियाजन्यम्।**[२५] **(अध्वरे) क्रियासांध्ये यज्ञे (यज्ञेषु) अग्निहोत्राद्यश्वमेधं तेषु शिल्पविद्यामयेषु वा।**[२६] **(मेधम्) ज्ञानक्रियामयं शुद्धं यज्ञं सर्वैर्विद्वद्भिः शुभैर्गुणैः कर्मभिर्वा सह सङ्गमम्**[२७] आदि। यजन कृत्य के साथ सम्बद्ध यज्ञ शब्द से तात्पर्य जीवन में चिन्तन और चरित्र को पवित्र एवं प्रखर बनाना है। यज्ञाग्नि तो प्रत्यक्ष ही विष्णु स्वरूप है— **'यज्ञो वै विष्णुः'**[२८] इसी यज्ञाग्नि के प्रकटीकरण एवं क्रियान्वयन की पद्धति ही अग्निहोत्र है। अग्निहोत्रों का तात्पर्य ऐसी ऊर्जा उत्पन्न करना है, जो न केवल शरीर को ओजस्, मन को तेजस्, आत्मा को वर्चस् दे सके, वरन् इस प्रकृति ब्रह्माण्ड में भी अनुकूलताओं का अनुपात बढ़ा सके।[२९] कोई भी पदार्थ जलकर गैस रूप में असंख्य गुना व्यापक हो जाता है। यही तो विज्ञान है, जिसका संकेत हम प्रारम्भ में ही दे चुके हैं'। यज्ञीय प्रवृत्ति का मूल ही यह है कि उपयोगी पदार्थों को सर्वजन- हिताय वायुभूत बनाकर बिखेर देना।

यज्ञ की सार्थकता ही इसी में है कि इससे आयु, प्राण, ज्योति तथा आकाशादि सभी शुद्ध एवं वृद्धि को प्राप्त होते हैं — **'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोतं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।'**[३०] यज्ञ विभिन्न ठोसों एवं द्रव्यों को गैस में परिवर्तित करके वायुशोधन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इससे सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होता है और इस प्रकार यज्ञ विविध सुखों से परिपूर्ण करता है।

ऋग्वेद[३१] के अनुसार यज्ञाग्नि ईश्वर प्रेरित पुरोहित है और वाणी के मूक रहने पर भी अपनी गतिविधियों में सर्वसाधारण को समग्र प्रगति और सुख—शान्ति की प्रेरणा देती रहती है। अग्नि को पुरोहित धर्मोपदेशक मानकर पूजन-अभिनन्दन करने का तात्पर्य है कि अग्नि में पायी जाने वाली विशेषताओं को ग्रहण करना। यथा—१. अग्नि सदा उष्ण एवं प्रकाशवान रहती है। अतः पुरुषार्थ पराक्रम की गर्मी, यशस्विता, तेजस्विता और विवेकशीलता को सदा प्रकाशवान् रहना चाहिए। २. अग्नि सदैव उर्ध्वगामी ही रहती है, कभी भी अधोमुखी नहीं होती। हमारी विवेक दृष्टि भी कभी पतनोन्मुख निकृष्ट नहीं होनी चाहिए, चाहे कितने ही प्रलोभन व

भय का सामना करना पड़े । ३. अग्नि के सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक अपवित्र वस्तु को अग्नि अपने सदृश पवित्र बना लेती है । हमें भी अग्नि के सदृश स्वयं बनकर अपने सम्पर्क में आने वाले सभी को श्रेष्ठ बनाते चलना चाहिए । ४. अग्नि को जो भी आहुति दी जाती है, वह उसे अपने पास संचय न करके विश्व वसुधा के लिए बिखेर देती है । हमारी प्रवृत्ति भी संग्रह की न होकर अपरिग्रह, उदार और जनहित के लिए होनी चाहिए । ५. अग्नि का अवशिष्ट भस्म है । मनुष्य का अवशेष भी मुट्ठी भर भस्म ही है । अत: अन्तिम परिणति का ध्यान रखते हुए अपनी सामर्थ्य को लोकहित में नियोजित करते रहना चाहिए । यही पञ्चाग्नि विद्या है, इसीलिए यज्ञ पवित्र धार्मिक कृत्य होने के साथ-साथ उत्कृष्ट जीवन दर्शन भी है । यज्ञकर्ता उपयोगी पदार्थों (घृत, मेवा, मिष्ठान्न आदि) को आहुतियों के रूप में अग्नि को देकर प्राणवान् वायु के रूप में वायुमण्डल में बिखेरकर प्राणिमात्र के लिये प्रस्तुत करता है । यज्ञ से उत्पन्न ऊर्जा से प्रकृति चक्र को पोषण मिलता है और उसके प्रभाव से प्राणवान्, पर्जन्ययुक्त वर्षा प्राप्त होती है[३२] । पर्यावरण शुद्ध होकर स्वस्थ शारीरिक व मानसिक स्थिति का जनक बनता है । शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति का प्रकृष्टतम साधन यज्ञ पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्युलोक तक को प्रदूषण मुक्त करने में सक्षम है । पाञ्चभौतिक पर्यावरण परिशुद्धि की यह प्रबलतम प्रक्रिया पूर्णतया वैज्ञानिक है । इससे वायुमण्डल में विद्यमान आक्सीजन और कार्बनडाईआक्साइड जैसी गैसों का सम्यक् सन्तुलन बना रहता है ।

द्रव्य यज्ञ से अदृश्य आकाश में जो आध्यात्मिक विद्युत तरङ्गें फैलती हैं, वे लोगों के मनों में से द्वेष, पाप, अनीति, वासना, स्वार्थपरता, कुटिलता आदि बुराइयों को दूर करती हैं । यज्ञ का विज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वेद मन्त्रों की शब्द शक्ति को विशिष्ट कुण्डों, समिधाओं, हवियों और चरुओं के साथ उत्पन्न की हुई विशेष सामर्थ्यवान् अग्नि में सम्मिश्रित कर देने पर रेडियो सक्रिय तरङ्गों का आविर्भाव होता है । ये शक्ति तरङ्गें रडार यंत्र की भाँति संसार के किसी भी भाग में भेजी जा सकती हैं, प्रकृति के गुह्य गह्वर में किसी विशेष प्रयोजन के लिए प्रविष्ट कराई जा सकती है ।[३३]

यज्ञीय अग्नि में जो समिधाएँ प्रयुक्त होती हैं, वे भी विशिष्ट गुणसम्पन्न होती हैं और इनका भी विज्ञान है । ऋतुसंधियों पर होने वाले

संक्रामक रोगों को दूर करने के लिए भैषज्य यज्ञों का विधान किया गया है—

'भैषज्य यज्ञा वा एते, ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते, ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते'[३४] ।

समिधा के लिये ऐसे वृक्षों का चयन किया जाता है, जिनसे कार्बनडाईआक्साइड बहुत कम निकलती है और इनसे कोयला नहीं बनता अपितु राख ही बनती है । आम, गूलर, पीपल, बिल्व, पलाश तथा शमी आदि का ही विधान है । घृत यज्ञ का प्रधान द्रव्य है । यह वायुमण्डल शोधक व विषनाशक होने के साथ-साथ शरीर को तेज और बल प्रदान करता है ।[३५] यज्ञ में प्रयुक्त द्रव्य पदार्थों में — केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित चावल, तिल, गुड़, शक्कर, किशमिश, छुहारा, द्राक्षा आदि मिष्ट पदार्थ सोमलता, गिलोय तथा अपामार्ग आदि रोगनाशक औषधियाँ और लड्डू, खीर, हलुआ, पूआ आदि स्थालीपाक को जब अग्नि में डाला जाता है, तब ये विघटित होकर सूक्ष्म अणु रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, जिनकी शक्ति अणुबम सदृश होती है और ये हल्के होकर वायु की सहायता से सर्वत्र फैल जाते हैं, जिससे प्रदूषण मुक्त स्वच्छ वातावरण का निर्माण होता है । 'अग्निहोत्र' नामक पुस्तक में 'डॉ०स्वामी सत्यप्रकाश जी ने द्रव्य सामग्री का विश्लेषण करते हुए बताया है कि इसमें कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनसे Formaldihyde गैस उत्पन्न होती है, जो कि शक्तिशाली कीटाणुनाशक है ।[३६] यज्ञ की वायुशोधक प्रक्रिया से जल भी शुद्ध होता है यथा ऋग्वेद कहता है कि — **'सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत ।'**[३७]

यजुर्वेद के १८वें अध्याय के १-२९ मंत्रों में तथा ९वें, २२वें, २३वें, तथा ३३वें अध्याय के अनेक मंत्रों में यज्ञ से वर्षा, कृषि, वृक्ष-वनस्पतियों की समृद्धि, ऊर्जा, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति, शारीरिक पुष्टि, नीरोगता, दीर्घायुष्य, प्रदूषण नाश तथा सुख-समृद्धि व शान्ति प्राप्ति का उल्लेख प्राप्त होता है । वस्तुत: यज्ञ का विधाता अग्नि है और उसमें समस्त देवशक्तियों को संतुष्ट करने की सामर्थ्य है । अग्नि ही यज्ञ की विधि व्यवस्था का स्वामी है । यह वेदों में सर्वज्ञाता और देवदूत तथा पुरोहित रूप में स्वीकार्य है । देव और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला देवदूत अग्नि ही है ।

'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।'[३८]

यज्ञ में देवों का आवाहन आहुतियों से किया जाता है । आहुति का अर्थ ही है—बुलाना । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार — 'ह्वयति देवानया सा आहुतिः जुहोति प्रक्षिपति हविरनया इति वा । **आहूतयो नामैता यदाहुतयः एताभिर्देवान् यजमानो ह्वयति तदाहूतीनामाऽहूतित्वम् ।**[३९]

शतपथ ब्राह्मण कहता है कि —**'सर्वेषां देवानां आत्मा यद् यज्ञः'** ।[४०] इसीलिए वेदों—ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म'** ।[४१]

अन्तिम **उपासना यज्ञ** से तात्पर्य समस्त प्रकार के ज्ञान विज्ञान रूप कर्म में अनासक्त भाव से लगे हुए परमेश्वर के समक्ष सर्वस्व अर्पण कर देना है । ऋग्भाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि — **'येनेश्वरेण सर्वे मनुष्यव्यक्त्यादय उत्पाद्य धरिताः, यस्मादयं सर्वेषु कर्मोपासना-ज्ञानकाण्डेषु पूज्यतमोऽस्ति** ।[४२] अखिल संसार रूप यज्ञ का कर्त्ता-धर्त्ता परमेश्वर है और वही पूज्यतम है, उपास्य है । अतः समस्त बाह्य विषयों से मन को हटाकर स्वस्थचित्त हो एकाग्रता के साथ उसके स्वरूप का ध्यान करने से सब ज्ञातव्य जान लिया जाता है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं । जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि —

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।'[४३]

यज्ञ पुरुष परमात्मा ही है । उसके चरणों में अपने को समिधा की भाँति समर्पित कर देने से अपना स्वरूप भी वैसे ही यज्ञमय हो जाता है, जैसे हवन की अग्नि में पड़ी हुई समिधा तथा सामग्री अग्निरूप हो जाती है । परमात्मा की आज्ञाएँ, प्रेरणाएँ तथा सतोगुणी प्रवृत्तियाँ अपने अन्तःकरण में धारण करना, अभ्यास, वैराग्य, स्वाध्याय, भक्ति आदि साधनों से ईश्वरीय प्रकाश को अपने अन्तः में धारण कर अपने आप को परमात्मा के चरणों में सौंप देना ही **उपासना यज्ञ** है ।

इस आध्यात्मिक यज्ञ में उपनिषदों के अनुसार — **'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, उरो वेदी, वेद शिखा, वाग् होता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युः, मनो ब्रह्मा, श्रोतमग्नीध्र, यन्मुखं**

तदाह्वनीयः उद्गाता ।' — आत्मा यजमान, श्रद्धा यजमान की पत्नी, हृदय वेदी, वेद शिखा, वाणी होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, कान आग्नीध्र, मुख आहवनीय है । बृहदारण्यक कहता है कि —

'वाग्वै यज्ञस्य होता । चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः ।
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता । मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा ।।'[४४]

आदि

इस प्रकार स्वयं को सर्वथा यज्ञमय बनाकर सर्वकामधुक् इस यज्ञ से लोकाभ्युदय व निःश्रेयस् प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करें । उपनिषद हमें यही शिक्षा देते हैं —

'यज्ञेन हि देवा दिवंगता यज्ञेनासुरानपानुदन्तः ।
यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ।'[४५]



सन्दर्भ-सूची

1. सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय म0अधि0काल, मानाध्याय, श्लोक9
2. लग्न ज्योतिष 7 खण्ड
3. गोपथ ब्राह्मण 1/4/24
4. यजु0वा0सं0 18/29
5. निरुक्त 13/71
6. निघण्टु 3/17
7. अमरकोष 2/7/13
8. यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ0 2/16
9. दयानन्द ग्रन्थमाला (प्रथम खण्ड) निर्वाण शताब्दी संस्करण 1983, पृ0 563
10. महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्यम् 1/2
11. वाजसनेयी संहिता 31/1-16, अथर्व0 19/6, तैत्तिरीयारण्यक 3/12

12. यजु0 23/62, शत0ब्रा0 9/10/14

13. ऋग्वेद 10/90/16

14. महर्षिकुलवैभवम्, पं0 मधुसूदन ओझा

15. तैत्तिरीय आरण्यक 8/5/1, तैत्तिरीय उपनिषद् 2/5/1

16. ऋग्वेद 10/130/1

17. ऋग् 10/90/6, यजु0 31/14

18. ऋग् 10/90/9 19. ऋग् 1/18/7

20. ऋग्वेद, दयानन्द भाष्य 1/1/1

21. वैदिक सम्पत्ति, प्रकाशक — माता कलावती धर्मार्थ न्यास, पानीपत (हरियाणा) पृ0 321-322

22. शत0 ब्रा0 1/1/1/1

23. ऋग्भाष्य, दयानन्द 1/3/10

24. तदैव 1/13/7 25. तदैव 1/15/6

26. तदैव 1/15/7 27. तदैव 1/3/9

28. शत0 ब्रा0 1/1/1/2, तैति0 सं0 1/7/4

29. यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य पृ0 2/20

30. यजु0 9/21 31. ऋग् 1/1/1

32. यजु0 23/7

33. यज्ञ का ज्ञान विज्ञान, पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य पृ0, 1/10 व 1/19

34. गोपथ ब्रा0 उ0 1/19, कौषी0 5/1

35. अथर्व 6/32/1

36. अग्निहोत्र, डॉ0 स्वामी सत्यप्रकाश, पृ0 153

37. ऋग् 7/47/3 38. ऋग् 1/12/1

39. ऐत0 ब्रा0 1/1/22 40. शत0 ब्रा0 13/3/2/1

41. तदैव 1/7/3/5 तथा तैत्ति0 सं0 3/2/1/4

42. ऋग्भाष्य दयानन्द 1/15/11

43. मुण्डकोपनिषद् 2/2/8

44. बृहदा0 3/1/3-6

45. महानारायणोपनिषद्

वैदिक वृष्टिविज्ञान

वैदिक दृष्टि से वृष्टि के लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी— इस त्रिक सन्निधान की आवश्यकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह उल्लेख मिलता है कि समुद्र से प्राप्त जल को पृथिवी अग्नि के द्वारा धूम रूप में ऊपर भेजती है। अन्तरिक्ष में वायु के सहयोग से मेघों की रचना होती है और मरुत् वृष्टि के कारण होते हैं। इस प्रकार वर्षा के लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी और चौथा समुद्र भी अपेक्षित है :—

''दिवा यान्ति मरुतो भूम्याग्निरयंयं वातो अन्तरिक्षेण याति।

अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैः।[१]''

वस्तुतः द्युलोक में सूर्य अपनी किरणों से समुद्र, नदी आदि के जल को भाप के रूप में ऊपर ले जाता है और वर्षा का कारण होता है। वर्षा के लिए मरुतों का बहुत बड़ा योगदान होता है। मरुत् ही वह साधन हैं, जो पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को एक सूत्र में पिरोकर वर्षण कार्य सम्पन्न कराते हैं। समुद्र के जल को अन्तरिक्ष में ले जाना, मेघों की रचना में सहयोग और वर्षण यह सभी कार्य मरुद्गणों के ही हैं। यजुर्वेद का तो स्पष्ट कथन है कि —

'मरुतां पृषतीर्गच्छ, वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ, ततो नो वृष्टिमावह।[२]

समुद्रं गच्छ, अन्तरिक्षं गच्छ.....दिवं ते धूमो गच्छतु, पृथिवीं भस्मनाऽऽपृण।[३]

अथर्ववेद तो मरुतों को जल का स्वामी कहता है[४]। आचार्य सायण के अनुसार वायु ही सूत्रात्मा के रूप में सारे संसार को धारण किए हुए है—**'सूत्रात्मना सर्व जगद् धार्यते'**। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य और अग्नि (ऊष्मा, ताप) द्यु, भू और अन्तरिक्ष तीनों में व्याप्त है'' और इसीलिए इसे त्रिवृत् कहते हैं। वायु (मातरिश्वा) इन तीनों का ही संयोजक है —

घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुः[५]।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक— ये ही मरुतों की वृद्धि के मुख्य स्थान हैं, क्योंकि वायु की प्रक्रिया सर्वाधिक यहीं होती है। ऋग्वेद में तो अनेकों मन्त्र ऐसे भरे पड़े हैं, जो कि मेघ निर्माण और वृष्टि में सहायक इन तीनों लोकों की पुष्टि करते हैं तथा मरुतों को इनका संवाहक व संयोजक बताते हैं। यथा —

'ये वावृधन्त पार्थिवा य उरावन्तरिक्ष आ। ...सधस्थे वा महो दिवः।'[६]

'समु त्ये महतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम्। सं वज्रं पर्वशो दधुः।'[७]

इन मरुतों की एक विशेष बात यह है कि ये हमेशा समूह में रहते हैं, समूह में चलते हैं और समूह में ही अपनी सारी क्रियाएँ सम्पन्न करते हैं। इसीलिए ये गण या व्रात (समूह) के रूप में प्रसिद्ध हैं—**'व्रातंव्रातं गणङ्गणं**[८]**'**। ये बहुत प्रतापी व शक्तिशाली हैं। वृष्टि के कर्ता-धर्ता भी ये ही हैं। इन मरुद्गणों के कार्यों को देखते हुए यजुर्वेद में इनके चार भेद या चार नाम दिये गये हैं—

'मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः गृहमेधिभ्यः, क्रीडिभ्यः, स्वतवद्भ्यः।[९]**'**

सान्तपन, गृहमेधी, क्रीड़ी और स्वतवस्। नाम के अनुरूप ही इनके कार्य भी हैं। यथा—

१. सान्तपन – ये अत्यधिक ताप अर्थात् तूफान और विद्युत् के द्वारा ऊष्मा उत्पन्न करते हैं।

२. गृहमेधी – गृहमेधी से तात्पर्य गृह-यज्ञ से है। ये सारी घरेलू व्यवस्था करते हैं। यथा— समुद्र से जल ढ़ोकर लाना फिर उसे दूध-दही की भाँति बादलों को जमाना। पुनश्च उनमें विद्युत् का सञ्चार करके पूर्ण परिपाक करना और फलस्वरूप वर्षण करना।

३. क्रीडी – ये वास्तव में बहुत अच्छे खिलाड़ी स्वरूप ही होते हैं। अच्छे खिलाड़ी की तरह ही पूर्ण उत्साह से भरे उछल-कूद करते हुए आकाश में विचरण करते हैं और एक कुशल योद्धा की तरह अस्त्र-शस्त्र लेकर गरजते हुए तूफानी हवाएँ चलाते हैं। योद्धा की ही भाँति मरते-कटते और बरसते हैं।

४. स्वतवस् –स्वशक्ति सम्पन्न इन मरुद्गणों की अपनी ही विद्युत्—योजना होती है, जिससे ये त्रिलोक का भरण-पोषण व लालन-पालन करते हैं ।

वेदों में वृष्टिकर्ता के रूप में मित्र और वरुण का भी अत्यधिक उल्लेख प्राप्त होता है—

'मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । धियं घृताची साधन्ता ।[१०]'

मित्र प्राणशक्ति अर्थात् धनात्मक है, जबकि वरुण अपानशक्ति अर्थात् ऋणात्मक है । ये दो प्रकार की शक्तियाँ आकाश में ऑक्सीजन व हाइड्रोजन के रूप में पायी जाती हैं, जिनके मिलने से जल बनता है । हाइड्रोजन के दो अणु और ऑक्सीजन के एक अणु के अनुपात से गैसों को मिलाने पर विद्युत् सञ्चार होते ही जल बनता है । आकाश में स्वत: ही दोनों गैसों के मिश्रण का यह क्रम सदैव चलता रहता है और जल तैयार होता रहता है । ये ही जल बरसाकर पृथिवी को तृप्त करते हैं, अन्न-समृद्धि देते हैं और वृक्ष-वनस्पतियों को भी जीवन प्रदान करते हैं । वरुण को जल का स्वामी कहा गया है, क्योंकि वर्षा पर उसी का आधिपत्य माना गया है । यद्यपि इन दोनों पर नियन्त्रण वायु का ही रहता है ।[११]

वैज्ञानिक दृष्टि से भी किसी द्रव्य का कण (Particle) यदि थोड़ी सी भी तडित्शक्ति (Positive या Negative electricity) वहन करते हुए घूमे तो वही charged particle ही (Ion) आयन कहलाता है । किसी भी तरल या वायवीय पदार्थ के कण यदि इसी प्रकार के वाहन बन जायें, तो उस तरल या वायवीय पदार्थ को Ionised (तडित्-शक्तियुक्त) कहा जायेगा ।[१२] वर्षा में यज्ञ का भी विशेष महत्त्व है । वस्तुत: यज्ञाग्नि में आहुत द्रव्य विद्युतकणीभूत (Ionised) हो जाता है । यज्ञीय अग्निशिखाओं द्वारा दग्ध द्रव्य जब गैस बनकर ऊपर की ओर जाता है, तो उसके सूक्ष्मकण (Ion) तडित्शक्तियुक्त (Charged) हो जाते हैं । इन्हीं कणों में से कुछ 'धन' (Positive) तडित् और कुछ 'ऋण' (Negative) तडित् को वहन करते हुए बाहर निकलते हैं । इन्हें ही क्रमश: ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के रूप में जाना जाता है, जिनका मिश्रण जल है ।

अथर्ववेद के अनुसार सूर्य की सात किरणें वर्षण कराती हैं, इसीलिए सूर्य किरणों को वृष्टिवनि अर्थात् वृष्टिकर्ता या वृष्टिदाता कहा जाता है। ये किरणें ही समुद्र से जल को भाप रूप में ऊपर ले जाती हैं और वृष्टि कराती हैं—

'अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः।

आपः समुद्रिया धाराः।[१३]'

'स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये।[१४]'

यज्ञ द्वारा मेघ निर्माण व वर्षा का उल्लेख वेदों में अनेक मन्त्रों में अनेकशः हुआ है। ऋग्वेद का तो स्पष्ट कथन है कि—

'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।[१५]

यज्ञ-प्रक्रिया ही संसार का केन्द्र (Nucleus) अर्थात नाभि है। सम्पूर्ण सृष्टिक्रम एक बृहत् यज्ञ है। वर्षाचक्र, ऋतुचक्र आदि सभी का आधार यज्ञ है—

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।[१६]

यजुर्वेद में इसी ऋतुभेद से मेघ के ६ भेदों का वर्णन प्राप्त होता है—

'वीध्र्याय, आतप्याय, मेघ्याय, विद्युत्याय, वर्ष्याय, अवर्ष्याय च।[१७]'

इनमें से शारदीय मेघ वीध्रय हैं, ग्रीष्मकालीन मेघ आतप्य हैं, वर्षाकालीन मेघ मेघ्य हैं, विद्युद्युक्त मेघ विद्युत्य हैं, बरसने वाले मेघ वर्ष्य हैं और न बरसने वाले मेघ अवर्ष्य हैं।

यजुर्वेद तथा अथर्ववेद दोनों ही के अनुसार वर्षा की नाभि (केन्द्र) समुद्र है—

'समुद्रे ते हृदयम्।'[१८]

'समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः।'[१९]

समुद्र ही वह आधार है, जो मेघों को जन्म देता है। समुद्र से उठी भाप का ही परिवर्तित रूप मेघ है, जिससे वर्षा होती है। यजुर्वेद में इस वाष्प बनने की प्रकिया को मधुमय लहर कहा गया है और वर्षा को अमृत की नाभि अर्थात् जीवनी शक्ति का केन्द्र—

'समुद्रादूर्मिर्मधुमान् उदारत्अमृतस्य नाभिः[२०]'

यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि पृथिवी (वशा, पृश्नि) अपने प्रतिनिधि के रूप में भाप रूप होकर ऊपर जाती है और वहाँ से वृष्टि लाती है—

'मरुतां पृषतीर्गच्छ, वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ, ततो नो वृष्टिमावह'[२१]।

अथर्ववेद भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन करता है—

'उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ। वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु'[२२]।

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में भी वृष्टि विषयक विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है। शतपथ ब्राह्मण[२३] के अनुसार वृष्टि के चार प्रमुख सहायक हैं—

१. पुरोवात (पूर्वी हवा) २. अभ्र (बादल) ३. विद्युत् ४. स्तनयित्नु (गर्जन)

बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदें अग्नि के तीन रूपों का वर्णन करते हुए तीनों लोकों के सहयोग से वर्षा का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्रस्तुत करती हैं। ये तीन अग्नियाँ क्रमशः १. द्युलोक में आदित्य (सूर्य) २. अन्तरिक्ष में पर्जन्य (मेघ, विद्युत्) और पृथिवी पर अग्नि है। वर्षा के उपकरण—वायु, अभ्र, विद्युत्, अशनि, घनगर्जन और सोमीय द्रव्य है, जो कि प्रत्येक अग्नि की समिधा, धूम, अर्चिस् (लपट), अंगार, विस्फुलिंग (चिनगारी) तथा हव्य के रूप में वर्णित है—

'पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं, धूमो, विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा,

ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः।'[२४]

तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार सात प्रकार के पर्जन्य (मेघ, बादल) वर्षा के द्वारा पृथिवी को तृप्त करतें हैं—

'वराहवः, स्वतपसः, विद्युन्महसः, धूपयः, श्वापयः, गृहमेधाः, अशिमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त. ।'[२५]

ये भेद वर्षा के सुखद-असुखद, कम-अधिक, बिजली की कम या अधिक चमक तथा घने-हल्के आदि भेदों के आधार पर किये गये हैं ।

वेदों में मेघों के गर्भाधान, पुष्टि और प्रसव आदि के साथ-साथ यज्ञ से कृत्रिम वर्षा कराने का भी उल्लेख प्राप्त होता है । ऋग्वेद के अनुसार सूर्य की किरणें पृथिवी को उर्वराशक्ति देने वाले वर्षा के जल को साढ़े छह मास अर्थात् १९५ दिन रोक कर रखती हैं । इस अन्तराल में वे आकाश में चारों ओर फैले रहते हैं और बाद में वर्षा के द्वारा पृथिवी को तृप्त करते हैं । भाप को मेघरूप में परिवर्तित होने में १९५ दिन का समय लगता है । मेघों के गर्भाधान से लेकर प्रसव तक की इस अवधि में मेघ-भ्रूण का सम्यक् परिपाक होने से वृष्टि उत्तम कोटि की होती है । अन्यथा गर्भपात व गर्भस्राव होने से अवृष्टि, अतिवृष्टि व उपलवृष्टि आदि हानिकारक वर्षा होती है ।

ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त कृत्रिम वर्षा कराने का विधान १२ मन्त्रों में बतलाता है ।[२६] अन्यत्र यज्ञ में ९९ हजार आहुतियाँ देने से शीघ्र वर्षा होती है ।[२७] **तिस्रो वाचः**— आदि ऋग्वेद के ७/१०१/१-६ मन्त्रों का भूखे रहकर ५ दिन तक लगातार जप करने से एवं वर्षकाम यज्ञ करने से वर्षा होती है । यज्ञ से मेघ और मेघ से वर्षा होती है ।[२८] कारीरी इष्टि अथवा वर्षकाम इष्टि का विधान भी वर्षा के निमित्त ही किया जाता है ।

मत्स्यपुराण[२९], वायुपुराण[३०] और विष्णुपुराण[३१] आदि में भी वृष्टि-विज्ञान सम्बन्धी कुछ सामग्री प्राप्त होती है, जिनमें मेघ निर्माण का प्रारम्भ, बादलों के विभिन्न भेद एवं वर्षा आदि का वर्णन है । वर्षा में सूर्य के योगदान पर भी विस्तृत चर्चा हुई है । सूर्य की किरणें कब समुद्र आदि से जल वाष्प के रूप में ऊपर ले जाती है ? सूर्य का वर्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कब वर्षा होती है ? आदि-आदि ।



सन्दर्भ – सूची

१. ऋग्वेद १/१६१/१४ ।   २. यजु० २/१६ ।
३. यजु० ६/२१ ।   ४. अथर्व० ४/२७/२-५ ।
५. ऋग्वेद १०/११४/१ ।   ६. ऋग्० ५/५२/७ ।
७. ऋग्० ८/७/२२ तथा ५/५३/६, ५/५५/५, ८/७/४, आदि ।
८. ऋग्० ५/५३/११ ।   ९. यजु० २४/१६ ।
१०. ऋग्० १/२/७ ।
११. ऋग्० ५/२४/५,५/६२/३,७/६४/२,७/६४/४ यजु०१४/२४ ।
१२. वेद व विज्ञान, स्वामी प्रत्यगात्मानन्द, पृ० २१८, २१९ ।
१३. अथर्व० ७/१०७/१ ।   १४. यजु० ३८/६ ।
१५. ऋग्० १/१६४/३५ ।   १६. ऋग्० १०/९०/६ ।
१७. यजु० १६/३८ ।   १८. यजु० १८/५५ ।
१९. अथर्व० १/१३/३ ।   २०. यजु० १७/८९ ।
२१. यजु० २/१६ ।   २२. अथर्व० ४/१५/५ ।
२३. शतपथ ब्रा० १/५/२/१८ ।
२४. बृहदा० ६/२/९, छान्दो० ५/४/५ ।
२५. तैत्ति०आ० १/९/४-५ ।
२६. ऋग्० १०/९८/१-१२ ।
२७. ऋग्० १०/९८/१० ।   २८. ऋग्० ८/१४/५ ।
२९. मस्त्यपुराण १२४/२९-३४ ।
३०. वायुपुराण ५१/१३-१६ ।
३१. विष्णुपुराण २/९/८-१२ ।

वैदिक वाङ्मय में मनस्तत्त्व

मानव शरीर के अन्दर विद्यमान मनस् के चिन्तन, मनन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण के सूत्र हमें वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्राप्त होते हैं और इस संक्षिप्त सूत्रों का विकसित रूप ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में प्राप्त होता है, जहाँ मन को संसार की सबसे बड़ी महान् शक्ति 'ब्रह्म' कहा गया है—**'मनो ब्रह्म[1]'**—गोपथ। शतपथ ब्राह्मण और यजुर्वेद में तो मन पोषणकर्त्ता, संसार का पालक, भरद्वाज ऋषि (भरद्-देने वाला, वाज-अन्न, शक्ति) कहा गया है—**'मनो वै भरद्वाज ऋषिः[2] ।'**

तात्पर्य यह है कि मन सर्वोच्च सत्ता है और वही संसार का नियामक है। इसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। यह शक्ति और उत्साह का स्रोत है। कर्म करने की प्रेरणा मानव को इसी की शक्ति से ही प्राप्त होती है। मनन और चिन्तन यदि इसका व्यापार है, तो कल्पना इसका कार्यक्षेत्र। मानव जैसी कल्पना, जैसा चिन्तन करता है, उसका स्वरूप वैसा ही हो जाता है। मन को ही सुख और दुःख की अनुभूति होती है। संसार मन का ही व्यापार कहा जाता है। इसीलिए मन को 'सर्वम्' कहा गया है—**'मन एव सर्वम्[3]'**। अनन्त और अपरिमित कहा गया है—**'अनन्तं वै मनः[4]'** तथा **'मनो वा अपरिमितम्'[5]**। अनन्त, अपरिमित, असीम और असंख्य शक्तियों से युक्त होने के कारण ही मन 'देव' है—**'मनो देव[6]'**। वस्तुतः वह दिव्य गुणों से युक्त, ज्योतिः स्वरूप मानव शरीर में एक देवता की भाँति ही प्रतिष्ठित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'मन परं ब्रह्म है और संसार का सम्राट् अर्थात् सर्वोच्च नियन्ता है'—**'मनो वै सम्राट्' परमं ब्रह्म[7]**। मन को ब्रह्मा और प्रजापति भी कहा गया है—**'मन एव ब्रह्मा[8]'** तथा **'मनो वै प्रजापतिः[9]'**। इस प्रकार मन सृष्टि-निर्माता व सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता है।

उपनिषदें भी ठीक ब्राह्मण ग्रन्थों की ही भाँति मन को ब्रह्मा व सृष्टि चक्र का निर्देशक तथा नियामक मानती हैं। यथा—**'मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा[10]'**। यहाँ पर मन को यज्ञ का ब्रह्मा कहने से तात्पर्य सृष्टिरूपी महान्

यज्ञ से है। मन की शक्तियाँ अनन्त हैं, इसीलिए मन को 'अनन्त' कहा गया है **'अनन्तं वै मनः[11]'** । परमात्मा का साक्षात्कार इसी मन के द्वारा ही होता है। तभी तो कठोपनिषद् में कहा गया है कि—**'मनसैवेदम् आप्तव्यम्[12]'** । वस्तुतः मन प्रकाशक और ज्योतिरूप हैं—**'मनो ज्योतिः[13]'** । ज्ञानरूप ज्योतिप्रदाता होने से मन को ज्योति कहा गया है । मन आग्नेय तत्त्व है और इसमें अग्नि के गुण विद्यमान हैं । इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में मन को अग्नि कहा गया है—**'मन एवाग्निः[14]'** । मानव का प्रेरक होने से मन को सविता और सूर्य भी कहा गया है—**'मनो वै सविता[15]'** । यथा सूर्य का आगमन मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करता है, तथैव मन मानव को कर्म के लिए प्रेरित करता है ।

मन कल्पनाओं और शक्तियों का अनन्त भण्डार व अगाध और अथाह समुद्र है—**'मनो वै समुद्रः[16]'** । मनोगत भावों, विचारों और कल्पनाओं का प्रकाशन व अभिव्यक्ति वाणी से होता है, अतः मन को एक महानदी मानते हुए वाणी को उसकी एक नहर बताया गया है—**'तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्[17]'** । मन जो सोचता है, वाणी उसे ही अभिव्यक्त करती हैं—**'यद्धि मनसाऽभिगच्छति तद् वाचा वदति'**[18] । सारे मानसिक व्यापारों का संचालन मानव शरीर में मन ब्रह्म का प्रतिनिधि होकर शरीरधारी के रूप में करता है । मन का प्राणों पर भी पूर्ण अधिकार है । इसीलिए मन को प्राणों का स्वामी अथवा अधिपति कहा जाता है— **'मनो वै प्राणानामधिपतिः[19]'** । हमारी रक्त-सञ्चार-प्रणाली तथा स्नायु-मण्डल का सञ्चालन इसी प्राणाधिपति (मन) के आदेशानुसार होता है । इतना ही नहीं ज्ञानेन्द्रियों तथा आत्मा के भी समस्त कार्य इसी मन के द्वारा ही होते हैं । अन्यमनस्कता ज्ञानेन्द्रियों को निष्क्रिय बना देती है । इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि **'मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति[20]'** । इतना ही नहीं अपि तु—**'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा, श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिः, ह्रीः, धीः, भीः, इत्येतत् सर्वं मन एव[21]'** अर्थात् काम (कामना, इच्छा), संकल्प (विचार, चिन्तन), विचिकित्सा (सन्देह, ऊहापोह), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धैर्य), अधृति (अधीरता), ह्री (लज्जा), धी (ज्ञान), भी (भय, आशंका) आदि सभी मन के ही विभिन्न रूप है ।

उपरोक्त विवेचन मन की क्षेत्र सीमा का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर मनस्तत्त्व के स्वरूप, गुण-कर्म तथा क्रियाकलाप पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है। मनस्तत्त्व को भलीभाँति हृदयङ्गम करने-हेतु मन का स्वरूप समझना अत्यावश्यक है।

मन का स्वरूप

अथर्ववेद में मन के स्वरूप तथा गुण-कर्मों पर प्रकाश डालते हुए आठ विशेषणों के साथ बड़े ही संक्षिप्त रूप में मन जैसे असीम तत्त्व को सूत्ररूप में एक मन्त्र द्वारा निरूपित किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।

मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥[22]

मन के ये विशेषण वर्तमान मनोविज्ञान की आठ शाखाएँ हैं, जिसमें मनोविज्ञान के प्रायः सभी विषय समाहित हो जाते हैं। इनको क्रमशः इन रूपों में समझा जा सकता है—

१. मनसे (मन अथवा चिन्तन के लिए) के द्वारा संवेदना (Sen sation) और प्रेरणा (Motivation) का ग्रहण होता है।

२. चेतसे (चेतना के लिए) के द्वारा चेतना (Consciousness) और चिन्तन (Thinking) का ग्रहण होता है।

३. धिये (धी अर्थात् ध्यान के लिए) के द्वारा ध्यान अथवा अवधान (Attention) अभिप्रेत है।

४. आकूतये (ज्ञान के लिए) के द्वारा अनुभूति (Feeling) और संवेग (Emotion) का ग्रहण है।

५. चित्तये (चित्त सम्बन्धी कर्मों के लिए) के द्वारा चित्त के धर्म स्मरण (Remembering) और उसके अभाव में विस्मरण (For getting) अभिप्रेत है।

६. मत्यै (बुद्धि के लिए) के द्वारा बुद्धि (Intelligence) अभिप्रेत है।

७. श्रुताय (अध्ययन के लिए) के द्वारा, श्रवण, पठन एवं शिक्षण (Learning) का ग्रहण है ।

८. चक्षसे (दर्शन के लिए) के द्वारा चक्षु के कार्य दर्शन अथवा प्रत्यक्षीकरण (Perception) अभिप्रेत है ।

अथर्ववेद के ही एक अन्य मन्त्र में मन को 'अमर' बताया गया है—**'मनसाऽमर्त्येन[23]'** अर्थात् अमर मन से हम अमर देवों के लिए यज्ञ करते हैं । ऋग्वेद के अनुसार मन देवता है, दैवी शक्ति है । यह शक्ति कहाँ से उत्पन्न हुई, यह विद्वान् ही बता सकते हैं—**'देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्[24]'** ।

मन की गति अतितीव्र है, जिसकी कोई सीमा नहीं है । अथर्ववेद में मन को 'आशुमत्' कहा गया है—**'मनोमनस्केतैः आशुमत्[25]'** । तीव्रगामी होने के साथ-साथ मन की गति बहुमुखी भी है । यह चतुर्दिक जहाँ चाहे वहाँ जाता है— **'मनो विष्वद्रयग् विचारीत्[26]'** । यह कभी द्युलोक, कभी अन्तरिक्ष तो कभी पृथ्वी पर विचरण करता है । इतना ही नहीं मन त्रिकालदर्शी भी है । इसकी गति वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में सामान रूप से होने के कारण यह तीनों कालों का साक्षात्कार कर लेता है—

'यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ।[27]'

मन ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से समस्त कार्य सम्पन्न करता है । यद्यपि उसके द्वारा किये गये कार्य शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं । समस्त ज्ञान और विज्ञान मन के अन्दर ही विद्यमान है । समस्त ज्ञान के स्रोत वेदों को परमात्मा अपने मन ही धारण किये हुए हैं—**'पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति[28]'** । इस मन की उत्पत्ति वाकतत्त्व से हुई है— **'वशा.... ततश्चित्तमजायत[29]'** । वाकतत्त्व को वशा कहा गया है, क्योंकि वह सबको अपने वश में रखता है । शतपथ ब्राह्मण में वाक्तत्त्व को मन से भी सूक्ष्म बताया गया है । तांड्य ब्राह्मण के अनुसार वाकतत्त्व समुद्र है अर्थात् वह समुद्र की भाँति सर्वत्र व्याप्त है । मन उसका नेत्र है । कारण, वाकतत्त्व अथवा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन मन है । इस मन को

पतन की ओर ले जाने वाला तथा उसकी शक्ति को क्षीण करने वाला तत्त्व ईर्ष्या है, जिसे अथर्ववेद में इस प्रकार बताया गया है— **'मनस्कं पतयिष्णुकम्**[30]**'** । सच ही तो है ईर्ष्यालु व्यक्ति का उत्साह क्षीण हो जाता है, जो धीरे-धीरे मन की दिशा को उन्नति की तरफ से मोड़कर अवनति की ओर ले जाता है ।

यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में वर्णित 'शिव-संकल्प सूक्त' के नाम से प्रख्यात प्रारम्भिक छः मन्त्रों में 'मन' को शुभ संकल्पों वाला होने के लिए प्रार्थना की गयी है । इस प्रार्थना में भी मन के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । क्रमशः मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

१. मन की गति अत्यधिक तीव्र एवं दूरगामी है । वह जाग्रत अवस्था में जिस प्रकार दूर-दूर तक गमन करता है, उसी प्रकार सुप्तावस्था में भी दूर-दूर तक जाता है । वह तेजस्वी इन्द्रियों का ज्योतिरूप प्रवर्तक है । यह एक प्रकाश है, जो ज्ञान-विज्ञान के सभी तत्त्वों को प्रकाशित करता है । वस्तुतः यह चेतना (Consciousness) का आधार है— **'यज्जाग्रतो दूरमुदैति ...... तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।**[31]**'**

२. सत्कर्मों में संलग्न मनीषीगण जिस मन से यज्ञीय श्रेष्ठ कर्मों को सम्पादित, करते हैं, ऐसा प्राणिमात्र में विद्यमान यह मन एक पूज्य यक्ष है । स्पष्ट है कि मन ही प्रेरणा (Motivation) का स्रोत है —

'येन कर्माण्यपसो.......... ।'[32]

३. मन के तीन विशिष्ट गुण हैं— (क) प्रज्ञान (जानने की शक्ति, Cognition) (ख) चेतस् (स्मरण करना Recollection) । और (ग) धृति (धारणा शक्ति Power of Retention) । यह सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में अमरप्रकाश ज्योतिस्वरूप है । इसके बिना प्राणी कोई काम नहीं कर सकता है— **'यत्प्रज्ञानमुत चेतो** ....।[33]'

४. वर्तमान, भूत और भविष्य के ज्ञान को प्रत्यक्षीभूत करने वाला यह अविनाशी मन त्रिकालदर्शी है— **'येनेदं भूतं भुवनं** ......।[34]'

५. मन में ही सारे वेद अर्थात् सारा ज्ञान-विज्ञान और बुद्धि (Intelligence) समाविष्ट है । प्रजाओं के सम्पूर्ण चित्तों का ज्ञान अर्थात् चित्त शक्ति (प्रज्ञाशक्ति, Cognition Faculty) भी इसी मन में विद्यमान है— **'यस्मिन्नृचः** ....।[35]'

६. अतितीव्र गति और असाधारण कार्य क्षमता वाले इस मन का निवास हृदय में है और यह एक कुशल सारथी की भाँति इन्द्रिय रूपी घोड़ों को नियन्त्रित कर गंतव्य (लक्ष्य) तक पहुँचाता है — **'सुषारथिरश्वानिव....** ।[36]' इस प्रकार हम देखते हैं कि मन दिव्य ज्योति, मानव का प्रेरक, अमर प्रकाश (प्रज्ञान, चेतस् और धृति रूप), त्रिकालदर्शी, ज्ञान का आधार, हृदयस्थ, अमर, दैवीशक्ति है, जिसकी गति असीम है तथा ज्ञान का अक्षय कोष है । इसकी उत्पत्ति वाकतत्त्व से होती है तथा ईर्ष्या के द्वारा इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है ।

मन के गुण और कर्म

चिन्तन, मनन और संकल्प करना—ये कार्य अथर्ववेद में मन के बताये गये हैं—**'मनसा सङ्कल्पयति.....**[37]' । मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान का संग्रह करता है । तत्पश्चात् मनन-चिन्तन के द्वारा हेयोपादेयता समझकर बुद्धि को प्रेषित करता है और बुद्धि के निर्णय को कार्य-तन्तुओं के द्वारा कर्मेन्द्रियों तक पहुँचाता है तथा तदनुसार उनसे काम कराता है । इस प्रकार मन ज्ञान और कर्म दोनों ही प्रकार के तन्तुओं से सम्बद्ध होता है । इसी को यजुर्वेद में कुछ इस प्रकार कहा गया है—**'मनसः काममाकूतिम्**[38]' अर्थात् काम (कामना करना, इच्छा करना) और आकूति (संकल्प, विचार करना) मन के काम हैं ।

ऋग्वेद का भी स्पष्ट कथन है कि मन ज्ञानात्मक और क्रियात्मक दोनों है- **'मनो दक्षमुत क्रतुम्'**[39] । यहाँ पर दक्ष से तात्पर्य ज्ञान से है और क्रतु शब्द कर्म अथवा क्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है । अथर्ववेद मन के काम का आकलन कुछ इस प्रकार करता है- **'ऋतस्य तन्तुं मनसा**

मिमानः[40]' अर्थात् मन ऋत के तन्तुओं को नापता है, अर्थात् उनकी गतिविधि का निरीक्षण करता है । मनुष्य के मस्तिष्क में सूक्ष्म ज्ञान-तन्तु होते हैं । इन्ही तन्तुओं का निरीक्षण, परीक्षण तथा तात्त्विक आकलन करना ही मन का काम है, जिसके आधार पर बुद्धि अपना निर्णय देती है। तन्त्रविद्या इन्ही ऋत् के तन्तुओं का ज्ञान कराती है ।

'**मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचत्**[41]' ऋग्वेद में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि मन हृदय को निर्देश देता है कि कब उसे क्या करना है । हृदय मन के निर्देशानुसार ही कार्य सम्पादन में प्रवृत्त होता है । यही कारण है कि हर्ष-शोक, दुःख-सुख, राग-द्वेष आदि अवस्थाओं में हृदय मन के निर्देशानुसार ही हँसने-रोने, हर्ष-शोक, क्षोभ-चिन्ता आदि स्थितियों में प्रवृत्त होता है । मन के अन्दर आकर्षण की भी एक अपूर्व शक्ति विद्यमान है, जो वशीकरण विद्या की जन्मदात्री है । इसी के द्वारा हृदय परिवर्तन किया जाता है । मन समान व विरोधी हृदयों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है । अथर्ववेद में कहा गया है कि- '**अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि**'[42] । 'मैं अपने मन से तुम्हारे हृदयों को अपने अनुकूल बनाता हूँ' ।

अथर्ववेद में ही मन को परमेष्ठी अर्थात् दैवीय शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्मा कहा गया है- '**इदं यत् परमेष्ठिनं मनः**'[43] । महान् शक्ति सम्पन्न यह मन शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा जो चाहे कर सकता है और उसी के अनुरूप अपने लिए सुखद अथवा दुःखद सृष्टि की रचना कर सकता है । जीवन को सुखी अथवा दुःखी बनाने में इसी मन का ही विशेष हाथ होता है । इसीलिए मन्त्र में दुःखमय सृष्टि के स्थान पर ज्ञान द्वारा सुख-शान्तिमय परिस्थिति उत्पन्न करने की प्रार्थना की गयी है । मन को शुभ संकल्पों वाला होने की प्रार्थना भी इसीलिए की जाती है । मन के अन्दर तीन विशिष्ट गुण होते हैं, जिन्हें यजुर्वेद में कुछ इस प्रकार वर्णित किया गया है- '**आ न एतु मनः पुनः, क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।**[44]'

यहाँ पर 'क्रत्वे' से तात्पर्य क्रियाशक्ति कर्मठता से है । 'दक्षाय' विशेषण मन की ज्ञानशक्ति, मनन एवं चिन्तन शक्ति को द्योतित करता हैं और 'जीवसे' मन की उस सञ्जीवनी, जीवन-प्रदात्री शक्ति की ओर

इङ्गित करता है, जिससे वह निर्जीव को सजीव और असमर्थ को समर्थ बना देता है। मन के संकल्प मात्र से मनुष्य में अद्भुत शक्ति का सञ्चार होने लगता है और व्यक्ति असम्भव से दिखने वाले कार्यों को भी सम्भव बना लेता है। मन में यह जीवनीशक्ति भरपूर मात्रा में मौजूद होती है। आवश्यकता केवल उसके उपयोग करने की होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन में वह समस्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो व्यक्ति को अपने अनुरूप अपने आस-पास का वातावरण निर्मित करने में पूर्ण समर्थ बनाती हैं। यह मन पूर्णतया दैवी शक्ति से ओतप्रोत है।



सन्दर्भ-सूची

१. गोपथ ब्रा० १/२/१० ।

२. शत० ब्रा० ८/१/९, यजु० १३/५५ ।

३. गो०ब्रा० १/५/१५ ।   ४. शत०ब्रा० १४/६/१/११ ।

५. कौषी०ब्रा० २६/३ ।   ६. गो०ब्रा० १/२/११ ।

७. शत०ब्रा० १४/६/१०/१५ ।

८. गो०ब्रा० १/२/१०, २/५/४ ।

९. तैत्ति०ब्रा० ३/७/१/२ ।

१०. बृहदा० उप० ३/७/१/२ ।

११. बृहदा० उप० ३/१/९ ।   १२. कठो० २/१/११ ।

१३. बृहदा० ३/९/१० ।

१४. शत० ब्रा० १०/१/२/३ ।

१५. शत० ब्रा० ६/३/१/१३ ।

१६. शत० ब्रा० ७/५/२/५२ ।

१७. जैमि० उप० ब्रा० १/५८/३ ।

१८. तांडय ब्रा० ११/१/३ ।

१९. शत०ब्रा० १४/३/२/३ ।

२०. शत०ब्रा० १४/४/३/८ ।

२१. शत० ब्रा० १४/४/३/९ ।

२२. अथर्व० ६/४१/१ ।

२३. अथर्व० ७/५/३ ।

२४. ऋग्० १/१६४/१८ ।

२५. अथर्व० ६/१०५/१ ।

२६. ऋग्० ७/२५/१ ।

२७. ऋग्० १०/५८/१२ ।

२८. ऋग्० १०/१७७/२ ।

२९. अथर्व० १०/१०/१८ ।

३०. अथर्व० ६/१८/३ ।

३१. यजु० ३४/१ ।

३२. यजु० ३४/२ ।

३३. यजु० ३४/३ ।

३४. यजु० ३४/४ ।

३५. यजु० ३४/५ ।

३६. यजु० ३४/६ ।

३७. अथर्व० १२/४/३१ ।

३८. यजु० ३९/४ ।

३९. ऋग्० १०/२५/१ ।

४०. अथर्व० १३/३/१९ ।

४१. ऋग्० ८/१००/५ ।

४२. अथर्व० ३/८/६ ।

४३. अथर्व० १९/९/४ ।

४४. यजु० ३/५४ ।

●

वैदिककालीन पर्यावरण में मानव-जीवन

'पर्यावरण चेतना' वैदिक चिन्तन के मूल में समाहित है। परि+आवरण इन दो शब्दों के योग से बने इस शब्द का अर्थ है—हमारे चारों ओर का वह वातावरण जिससे हम आवृत्त रहते हैं अर्थात् ऐसी परिवृत्ति जो मानव को चारों ओर से आवृत्त कर उसके जीवन और क्रियाओं को प्रभावित करती है। वेदों में उत्तम कोटि के पर्यावरण का सृजन करने, उसे संरक्षित, संवर्धित व समृद्ध बनाने के विषय में पर्याप्त साम्रगी यत्र-तत्र-सर्वत्र प्राप्त होती है। पर्यावरण के प्रमुख संघटक तत्त्व पृथ्वी, जल, वायु और आकाश आदि की शुद्धि विषयक तथा इनको प्रदूषण से बचाने के अनेक मंत्र वेदों में भरे पड़े हैं। यही कारण है कि सुव्यवस्थित मानव जीवन का दर्शन हमें वैदिक पर्यावरण में ही होता है, जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सम्यक् परिपूर्ति करते हुये मानव नीरोग रह कर शतायु (पूर्णायु) प्राप्त करता था।

मानव से इतर समस्त घटक, वस्तुएँ, दशाएँ एवं स्थितियाँ सभी पर्यावरण के प्रति उत्तरदायी हैं। वायुमण्डल, जलमण्डल और स्थलमण्डल के सभी भौतिक तथा रासायनिक तत्त्व इसमें शामिल हैं। यह पर्यावरण भौतिक एवं जैविक दोनों ही तत्त्वों से मिल कर बना है। भौतिक पर्यावरण के अन्तर्गत हम जल, वायु, मृदा (मिट्टी), प्रकाश और ताप को सम्मिलित करते हैं, जिनसे हमारा वायुमण्डल, जलमण्डल व स्थलमण्डल निर्मित होता है। इसी के समानान्तर जैविक पर्यावरण में समस्त जीव-जगत् और समस्त प्रकार के पेड़-पौधे व वनस्पतियाँ सम्मिलित हैं।

अथर्ववेद के अनुसार पर्यावरण के तीन प्रमुख संघटक तत्त्व हैं—जल, वायु और औषधियाँ। ये भूमि को परिवृत्त किये हुये हैं और मानवमात्र को प्रसन्नता देते हैं। इसीलिये इन्हें 'छन्दस्' (छन्द) कहा गया है। इतना ही नहीं इनके नाम और रूप भी अनेक हैं। इसीलिये इन्हें पुरुरूपम् भी कहा गया हैं। ये सभी तत्त्व समस्त लोकों की जीवनरक्षा के लिये प्रदान किये गये हैं—

"त्रीणिच्छन्दांसि कवयो वियेतिरे, पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।

आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ।।[१]"

स्पष्ट है कि समस्त प्राणियों का जीवन इन्हीं तीन पर आधारित है । स्थलमण्डल, जिससे समस्त वृक्ष-वनस्पतियों, औषधियों के माध्यम से सभी प्राणियों के भोजन की पूर्ति होती है । जलमण्डल, जिसमें नदियाँ, तालाब, झरने, समुद्र तथा सभी जलीय स्रोतों के द्वारा जलापूर्ति तथा वायुमण्डल, जिसकी कोई सीमा नहीं है—से सभी प्राणी प्राणवायु प्राप्त कर प्राणवान् (जीवित) होते हैं ।

पर्यावरण के इन्हीं संघटकों की शुद्धि और इनको प्रदूषित होने से बचाने के लिये वेदों में 'यज्ञ' का विधान बताया गया है । यज्ञ ही वह विधि है, जिसके द्वारा प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखा जा सकता हैं । यज्ञ के द्वारा भू-प्रदूषण दूर किया जा सकता है । यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म[2]'** ।

यह यज्ञ पंचतत्त्व अर्थात् पंच महाभूतों को विशुद्ध करने वाला है, जिनसे संसार की उत्पत्ति व स्थिति है । यजुर्वेद तो पूरा का पूरा यज्ञीय विज्ञान ही है । इसे पर्यावरण विज्ञान का भी अद्भुत ग्रन्थ कह सकते हैं । इसमें यज्ञ को संसार का उत्पत्ति स्थान (नाभि) कहा गया है—**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः[३]'** । ऋग्वेद[४] में तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'यज्ञ' से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है । विचारणीय प्रश्न ये है कि यज्ञ कैसे हमारे पर्यावरण (वातावरण) को प्रभावित करता है ? क्या वास्तव में यज्ञ से पाँचों महाभूतों का शुद्धीकरण सम्भव है ? आदि ।

हाँ, यज्ञ या अग्निहोत्र पूर्णतया एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वायुमण्डल में आक्सीजन और कार्बनडाईऑक्साइड का सन्तुलन बना रहता है । अग्नि में दी गयी हवि वायु के सहारे सूर्य की ओर जाती है । पुनः समस्त अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाती है । सूर्य के प्रभाव से मेघमण्डल के साथ मिश्रित होकर हवि नीचे उतरकर वर्षा करती है, जिससे अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा की रक्षा होती है । वस्तुतः हवि से पार्थिव पदार्थ, आकाशस्थ वायु और यहाँ तक कि सूर्य रश्मियाँ भी शुद्ध

हो जाती है । यही कारण है कि यज्ञ को सूर्य के समान तेज-स्वरूप कहा गया है—**'स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः[५]'** । यथा सूर्य संसार की दुर्गन्ध व अपवित्रता को दूर करता है और जल को पवित्र करता है, उसी तरह यज्ञ भी समस्त वातावरणीय दोषों को दूर कर विशुद्ध वर्षण जल का सृजन करता है । यज्ञीय अग्नि से उत्पन्न धुएँ से बने बादलों से हुयी वृष्टि का जल सर्वोत्तम होता है, अमृत-तुल्य होता है—यह तो विज्ञान द्वारा भी सुपरीक्षित है । वृष्टि के जल से सिंचित भूमि कृत्रिम उपायों से सींची गयी भूमि से कहीं अधिक श्रेष्ठ है । वर्षा के जल से सिंचित भूमि में उत्पन्न खाद्यान्न मानव जीवन के लिये समस्त आवश्यक पोषक तत्त्वों से युक्त व विशुद्ध होता है । इतना ही नहीं समस्त औषधियाँ व वनस्पतियाँ तो वर्षण से ही सम्भव हैं । वृष्टि विज्ञान का रहस्य हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में उच्चकोटि का प्राप्त होता है । वर्षण से उत्पन्न वनस्पतियों के बिना तो यज्ञ भी सम्भव नहीं है ।

वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्मृति ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता के ३,४,१७ व १८ वें अध्याय में भी यज्ञ का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है । गीता में तो यहाँ तक कह दिया गया कि यज्ञ के अतिरिक्त अन्य जितने भी कर्म हैं, वे सब बन्धन में डालने वाले हैं—

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः[६]' ।

इस प्रकार एकमात्र यज्ञ ही मुक्ति प्रदान करने वाला है । भगवान् ने गीता में यज्ञ की प्रकृति एवं प्रक्रिया को भी बड़े ही सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है । १८वें अध्याय के ५वें श्लोक में यज्ञ को भगवान् ने भी पवित्रता करने वाला प्रमुख कारक बताया है । यज्ञ शब्द का तो वाच्यार्थ ही है—स्वार्थत्यागपूर्वक पूजन करना । इसीलिये महात्मा गाँधी ने यज्ञ का अर्थ परोपकार किया है । जहाँ स्वार्थ नहीं, वहीं पवित्रता है ।

यज्ञ के द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा, वायुमण्डल की पवित्रता, विविध रोगों का नाश, शारीरिक-मानसिक और आत्मिक उन्नति तथा रोग-निवारण के कारण दीर्घायुष्य आदि अनेक अभीष्टों की सिद्धि एक साथ ही बिना प्रयास के हो जाती है । यजुर्वेद के अध्याय १८ के प्रारम्भ से लेकर

२९ मंत्रों तक यज्ञ से सभी प्रकार की कृषि, वर्षा, ऊर्जा, दीर्घायुष्य, वृक्षवनस्पतियों की समृद्धि, अन्न-समृद्धि, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति, शारीरिक पुष्टि, नीरोगिता, प्रदूषणनाशन के द्वारा सुख-शान्ति की प्राप्ति आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् यज्ञ को पर्यावरण-प्रदूषण के निराकरण का सर्वोत्तम साधन मानता है। समस्त प्रकार की अशुद्धियों, दोषों और प्रदूषण को दूर करके पवित्र करने वाला होने से ही इसे यज्ञ कहा जाता है। यथा—

'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह
यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः[7] ।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को सारे जीवों का रक्षक बताया गया है, इसीलिये इसे भुज्यु कहा गया है भुज्युः सुपर्णो यज्ञः[8] । ऋतु-सन्धिजनित संक्रामक रोगों के निवारणार्थ इनमें भैषज्य यज्ञों का भी विधान है। यथा— **'भैषज्य यज्ञा वा एते, ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते, ऋतु सन्धिषु वै व्याधिर्जायते[9]'** । यहाँ यज्ञ में प्रयुक्त कुछ द्रव्यों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनकी प्रमुख रूप से शुल्ब सूत्र ग्रन्थों में वैज्ञानिक प्रक्रिया उपलब्ध होती है—

१. समिधा–यज्ञ में प्रायः समिधा के लिये ऐसे वृक्षों का चयन किया जाता है, जिनसे कार्बनडाईआक्साइड बहुत ही कम मात्रा में निकलती है और जो शीघ्र ही जल जाते हैं। इनमें धुआँ भी कम निकलता है और इनसे कोयला नहीं बनता, अपितु सीधे ये राख में ही परिवर्तित हो जाते हैं, जोकि भूमि को अधिकाधिक उपजाऊ बनाने में सहायक होते है। ये वृक्ष हैं— आम, गूलर, पीपल, शमी, पलाश, बड़, बिल्व आदिं। ठोस लकड़ियाँ शीशम आदि सर्वथा वर्जित हैं।

२. घृत– घृत गाय का सर्वोत्तम माना गया है। यह आयुवर्धक, बल प्रदान करने वाला होता है। आहुति में डाला गया घृत रोग-निरोधक तथा वायुमण्डल को शुद्ध करता है—**'यातुधानक्षयणंघृतेन[10]'** । घृत में विष को भी नष्ट करने की क्षमता होती है। इसीलिए सर्पदंश से पीड़ित व्यक्ति को घृतपान कराया जाता है। पुराना घी सूँधने मात्र से उन्माद दूर होता है व नेत्रों में घृत का अञ्जन देने से ज्योति बढ़ जाती है।

३. सामग्री–(हव्य वस्तुएँ) हव्य वस्तुएँ चार प्रकार की होती हैं—

(अ) सुगन्धित–कस्तूरी, केसर, अगरू, चन्दन, जायफल, जावित्री, इलायची आदि । ये सभी वस्तुएँ अग्नि में पड़कर सुगन्धित वायु प्रदान करती हैं और वायुमण्डल को शुद्ध करती हैं ।

(ब) पुष्टिकारक–घृत के अतिरिक्त दूध, फल, कन्द, मूल, गेहूँ, चावल, उड़द, तिल आदि पदार्थ मानव मात्र को हृष्ट-पुष्ट बनाते हैं ।

(स) रोगनाशक–गुग्गुल, गिलोय, अपामार्ग, सोमलता आदि औषधियाँ यज्ञ में प्रयुक्त होने पर अनेकानेक रोगों का निवारण करती हैं । यज्ञोपैथी (यज्ञ चिकित्सा) में अलग-अलग रोगों के शमनार्थ अलग-अलग औषधियों की आहुति देने का विधान है ।

(द) मिष्ट द्रव्य–मीठी वस्तुएँ यथा—शक्कर, गुड़, द्राक्षा, किशमिश, छुहारा आदि पदार्थों में वायुमण्डल को शुद्ध करने की असाधारण शक्ति होती है ।

४. स्थालीपाक–स्थालीपाक में लड्डू, खीर, मीठा, चावल, मोहनभोग, हलुआ, पुआ आदि परिगणित हैं । बिना नमक की खिचड़ी, चावल आदि में भी घृत डालकर आहुति देने का विधान है । ये सभी वस्तुएँ रोगनाशक एवं वायुशोधक हैं ।

उपर्युक्त समस्त द्रव्यों का जब यज्ञीय अग्नि में हवन किया जाता है, तो अग्नि के सम्पर्क से इनका विघटन होता है और वे सब अत्यन्त सूक्ष्म अणुरूप में हो जाते हैं और वातावरण को शुद्ध करने में इनका प्रभाव अणुबमों जैसा प्रभावशाली होता है । यह वैज्ञानिक तथ्य भी है कि जो पदार्थ जितना सूक्ष्म होता जाता है, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है । विज्ञान का तो यह मानना ही है कि कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता है, केवल उसका रूप परिवर्तित होता है और उसी के अनुसार उसकी शक्ति में भी परिवर्तन आता रहता है । बायोकेमिक और होम्योपैथी औषधियों के मूल में तो यही पद्धति काम करती है ।

यज्ञ में प्रयुक्त हव्य पदार्थ अग्नि में पड़कर हल्का होकर वायुमण्डल में चतुर्दिक फैल जाता है । परिणामस्वरूप जहाँ तक यज्ञ की सुगन्धित वायु

जाती है, वहाँ की दूषित वायु नष्ट होती जाती है। अत्यल्पमात्रा में प्रयुक्त भी घृत—शक्कर आदि लाखों लोगों को लाभान्वित करते हैं। इनसे स्वच्छ और स्वस्थ प्राणवायु प्राप्त होती है। पर्यावरण-प्रदूषण की मात्रा कम होती जाती है, जिससे न केवल शारीरिक अपि तु मानसिक निर्बलता, कुविचारों का आना, दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति व आत्महत्या जैसी दुष्प्रवृत्तियों की रोकथाम सम्भव है। यज्ञ सभी प्रकार के मानसिक और बौद्धिक रोगों को दूर करके शिवसंकल्प, सद्भाव, शान्ति और नीरोगिता का वातावरण प्रदान करने में सहायक है। आत्मशक्ति व मानसिक विकास का यह अमोघ साधन है।

एक जर्मन वैज्ञानिक की यह उद्घोषणा है कि 'मैंने स्वयं अग्निहोत्र का परीक्षण किया है और पाया है कि भारतीयों के हाथ में यह एक आश्चर्यजनक शस्त्र हैं।' पर्यावरण-प्रदूषण को समाप्त करने में इसका प्रयोग अनिवार्यतः फलदायी है। न्यू जर्सी में तो 'अग्निहोत्र' नाम की एक संस्था ही है। रसायनशास्त्री डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश के अनुसार यज्ञीय सामग्री में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो कि प्रबल कीटाणुनाशक हैं। इसमें उत्पन्न गैस से पानी का साथ होने पर अद्भुत कीटाणुनाशक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि यज्ञकुण्ड के चारों और जल-सिञ्चन होता है। यज्ञीय मंत्रों का सस्वर पाठ ध्वनि-प्रदूषण को बहुत अंश तक नष्ट करने में सहायक होता है। मिष्ट पदार्थों में वायु को शुद्ध करके क्षय, चेचक व हैजा जैसी बीमारियों के कीटाणु नष्ट करने की अद्भुत क्षमता है। घृत जलने पर सर्वविध रोगाणुओं को समाप्त करने में सक्षम होता है। यज्ञ की यही वायुशोधक प्रक्रिया जल को भी शुद्ध करती है। इसीलिए ऋग्वेद और अथर्ववेद में नदी, तालाबों आदि के जलों को शुद्ध करने के लिए यज्ञ की आवश्यकता पर बल दिया गया है—

'सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः[11]'।

'सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत[12]'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मात्र यज्ञ समस्त पञ्चतत्त्वों को शुद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता हुआ पर्यावरण को शुद्ध रखता है। यजुर्वेद में पर्यावरण को एक देव तत्त्व माना गया है, जिसके विभिन्न अंग हैं। पर्यावरण और वरुण देवता समानार्थक हैं, क्योंकि दोनों के ही मूल में वृञ् वरणे धातु है। अग्नि, वायु, चन्द्रमा, वसुगण, रुद्रगण,

मरुद्गण, आदित्यगण, विश्वेदेवा, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण आदि सभी देवता पर्यावरण के अंग हैं—**'अग्निर्देवता वातोदेवता----वरुणो देवता ।'**[13] इसीलिए इन सभी से वेदों में दीर्घायुष्य व सुखी जीवन की याचना की गयी है—**'देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।**[14]' अग्नि उर्ध्वगामी है । अतः यज्ञ में अग्नि के माध्यम से इन्हीं समस्त देवताओं को हव्य-प्रदान करके पुष्ट किया जाता है । फलस्वरूप वे हमें स्वस्थ, सुखी व नीरोग जीवन प्रदान करते हैं । वैदिक काल में मानव यज्ञ-कर्म में निरत रहते थे । उनके जीवन में यज्ञ आवश्यक कर्म था । यही कारण है कि वैदिक पर्यावरण में मानव जीवन सभी सम्पदाओं से ओत-प्रोत था ।



सन्दर्भ सूची

१. अथर्व० १८/१/१७ ।
२. शत०ब्रा० १/७/४/५ ।
३. यजु० २३/६२ ।
४. ऋग्० १०/९०/८-९ ।
५. शत०ब्रा० १४/१/१/६ ।
६. श्रीमद्भगवद्गीता ३/९ ।
७. छान्दो० ४/१६/१ ।
८. यजु० १८/४२ ।
९. गोपथ ब्रा० ३०/१/१९ ।
१०. अथर्व० ६/३२/१ ।
११. अथर्व० १/४/३ ।
१२. ऋग्० ७/४७/३ ।
१३. यजु० १४/२० ।
१४. यजु० २५/१५ तथा १३/१, ३३/४८, ३३/५१ आदि भी द्रष्टव्य ।

नगरवास्तुवीक्षण

वास्तुशास्त्र मूलतः विज्ञान का विषय है । **'यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** के अनुसार पञ्चमहाभूतों, नवग्रहों तथा द्वादश राशियों आदि का जैसा प्रभाव ब्रह्माण्ड में, ठीक वैसा ही पिण्ड पर भी देखा जा सकता है । यही कारण है कि मनुष्य को अपने निवास व जीवनयापन हेतु व्यवसायादि के लिए स्थायी रूप से सर्वविधकल्याणकारी स्वरूप के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है । वास्तुशास्त्र हमें भूमि एवं भवन में आवास एवं उसमें कार्य करने वालों को अधिकतम सुविधा और सुरक्षा प्राप्ति के नियमों, सिद्धान्तों, विधियों तथा प्रविधियों का समुचित ज्ञान उपलब्ध कराता है ।

वस्तुतः 'वस् निवासे' (भ्वा०) धातु से निष्पन्न 'वास्तु' शब्द से ही तात्पर्य बसने अथवा निवास करने से है । जिस भूमि पर मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं, उसे ही वैदिक ऋचाओं में 'वास्तु' की संज्ञा दी गयी है— **'वसन्ति यस्मिन्निति वास्तुः'** । वैदिक कोशों में इसका अर्थ गृह एवम् अन्तरिक्ष किया गया है ।[1] निरुक्त में भी गृह को वास्तु तथा उसके रक्षक-देवता को वास्तोष्पति कहा गया है—**'वास्तुर्वसते निवासकर्मणः, तस्य पाता पालयिता वा'** ।[2] आदि

भारतीय स्थापत्य अभ्युदय और निःश्रेयसकारक विशुद्ध वैज्ञानिक है । विशाल भवन तथा गगनचुम्बी विमान आदि इसके भौतिक अभ्युदय के परिचायक हैं । भारतीय संस्कृति का मूलाधार देव-तत्त्व है । यदि संगीत में नाद ब्रह्म, नृत्त में नटराज शिव, आलेख्य में जगन्नाथ के पटचित्र तो वास्तु में वास्तु-ब्रह्म जैसी भावना यहाँ अनुस्यूत है । यहाँ का भवन-कर्म यज्ञ के रूप में परिकल्पित है । अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य वेद के रूप में ऋषि कल्पित हैं । मत्स्यपुराण अष्टादश वास्तुशास्त्रोपदेशक ऋषियों का संकेत करता है—

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च ।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ।।

इनमें से विश्वकर्मा तथा मय भारतीय स्थापत्यपरम्परा के दो बड़े प्रख्यातनामा स्थपति के रूप में जाने जाते हैं । प्राचीन वास्तु ग्रन्थों में बृहत्संहिता, विश्वकर्मप्रकाश, समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा, प्रमाणमञ्जरी, वस्तुशास्त्र, मयमतम् तथा मानसार आदि, परवर्ती ग्रन्थों में वास्तुराजवल्लभ, प्रासादमण्डन, वास्तुमण्डन, कोदण्डमण्डन, शिल्परत्न, वास्तुरत्नाकर, ज्योतिर्निबन्ध, मुहूर्तचिन्तामणि, मुहूर्तगणपति, वास्तुसूत्रोपनिषद्, बृहद्वास्तुमाला आदि, पुराणों में मत्स्य, वराह, ब्रह्मवैवर्त, स्कन्द, अग्नि, देवीभागवत, गरुड, श्रीमद्भागवत, कल्कि, भविष्योत्तर तथा विष्णुधर्मोत्तर आदि, शुल्बसूत्रों में बौधायन, आपस्तम्ब आदि तथा प्राचीन साहित्य में बाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि व कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र की ११वीं शताब्दी की महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेवविरचित अधिकृत कृति है, जो कि पूर्णतया वैज्ञानिक भी है । कारण, इसका स्थापत्य पार्थिव और अपार्थिव दोनों का संगम है । इसमें पञ्चमहाभूतों (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) से निर्मित प्राणी के जीवन में इसी पाञ्च-भौतिक सृष्टि के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का विज्ञान है । पञ्चमहाभूतों के सन्तुलन से प्राणीमात्र का तन, मन व जीवन स्वतः स्फूर्त हो जाता हैं, जबकि असन्तुलन से एकदम निष्प्रभ व निष्क्रिय सा हो जाता है । वास्तुशास्त्र का तो स्पष्ट उद्घोष है—

'सर्वतः शोधितं वास्तु यच्च सर्म्याति भवेत् ।
स्वामिनस्तद् भवेद् धन्यं स्थपतेश्च यशस्करम् ।।
अर्चितं वर्धते वास्तु नरिभिः पशुभिर्नरैः ।
कीर्त्यायुर्धनधान्यैश्च प्रमोदैः तु महोत्सवैः ।।'

'देशः पुरं निवासश्च सभावेश्मासनानि च ।
अपि च–यद्ददीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करंमतम् ।।[३]

अर्थात् देश (सम्पूर्ण राष्ट्र, राज्य जिले आदि), पुर (राजधानी, महानगर, नगर, लघुनगर आदि), निवास (गाँव, कस्बे, गलियाँ, बस्तियाँ, कालोनी आदि) सभा (विशेष प्रकार के भवन यथा मन्त्रशाला, धारा परिषद्

आदि) वेश्म (प्रासाद आदि उच्चकोटि के भवन सामान्यजनों के घर आदि) और आसन (विभिन्न प्रकार के पलंग और सवारियाँ आदि) तथा इनके अलावा और भी जो निर्माण हो, उनमें जो-जो वास्तुशास्त्र के अनुसार है, वही कल्याणकारी है ।[४]

इस वास्तुशास्त्र के मुख्यत: तीन अङ्ग हैं—वास्तु, शिल्प तथा चित्र ।[५] इनमें से वस्तु शब्द से उत्पन्न वास्तु के अनुसार कोई भी निर्माण द्रव्य—पाषाण, काष्ठ, धातु आदि जब किसी अभिनव निर्मिति में परिणत होता है, तो वह वास्तु की संज्ञा से व्यवहृत होता है । इस प्रकार समस्त सृष्टि ही वस्तु है, जिसे विश्वकर्मा ने वास्तु रूप में परिणत किया । ऋग्वेद में वास्तु शब्द भवन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अस्तु, वास्तु शब्द का वाच्यार्थ भूमि, हर्म्य, यान एवं पर्यङ्क आदि से लिया गया । इनमें से प्रथम दो भूमि तथा हर्म्य ही नगर वास्तु के सार्थक अङ्ग हैं । कारण, भूमि आधार है और हर्म्य आधेय । बिना भूमि के नगर का निवेश कहाँ ? और बिना हर्म्य अर्थात् भवन, प्रासाद, राजप्रसाद, मण्डप, सभा, शाला आदि के नगर की परिकल्पना कैसी ?

वास्तु भवन-निवेश की प्रथम महत्त्वपूर्ण इकाई है, यह औपचारिक भी है तथा वैज्ञानिक भी । औपचारिकता की दृष्टि से इसमें भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा के अनुरूप वास्तु-चयन एवं वास्तु-प्रकल्पन के साथ-साथ शोधन, कर्षण, अङ्करोपण, अलिदान, होम, शान्ति, माङ्गलिक, आयादि-विचार, शिलान्यास आदि-आदि कर्मों का विधान किया जाता है, जिनके अन्तस्तम में पूरी तरह से विज्ञान भरा हुआ है । यथा—शोधन प्रक्रिया से वास्तु-क्षेत्र के चयन में शल्योद्धार के द्वारा वास्तु भूमि न केवल मनोरम, अपितु पवित्र भी हो जाती है । भू-परीक्षा, मृत्तिका-परीक्षा पूर्णतया भूमि की प्रशस्तता-अप्रशस्तता का ज्ञान कराती है । बीज-वपन अथवा अङ्कुरारोपण से वास्तु-भूमि की प्रवर्धनशीलता का प्रत्यक्ष अनुमान हो जाता है । वास्तु-देवता-पूजन, बलि, प्रतिष्ठा, होम, शान्ति आदि माङ्गलिक कृत्य निवेश्य को वैयक्तिकता से ऊपर उठाकर पूरी तरह से सामाजिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिकता से भर देते हैं । इनमें भूतों की तुष्टि से लेकर सर्वत्र व्याप्त सनातन चैतन्य के संस्मरण के साथ लोकोपकारक व जनानुरञ्जक पक्ष भी समाविष्ट है ।

समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार स्थापत्य चार प्रकार का होता है— १. शास्त्र २. कर्म ३. प्रज्ञा तथा ४. शील (आचरण) और इस लक्ष्य-लक्षण शास्त्र में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति ही स्थपति है। ऐसे शास्त्रज्ञ स्थपति को समुद्र (सामुद्रिक शास्त्र), गणित, ज्योतिष, छन्दस्, शिरा-ज्ञान, शिल्प तथा यन्त्र-कर्म-विधि—इन वास्तुशास्त्र के अङ्गों का भलीभाँति ज्ञान होना चाहिए और शास्त्रानुसार लक्षणों को समझकर कार्य करना चाहिए।[६] स्थपति में अष्टकर्म ज्ञान-सम्पादन भी परमावश्यक है—आलेख्य (चित्रकारी), लेख्यजात अर्थात् लेप-कार्य, दारुकर्म, काष्ठकला (पच्चीकारी), चय (चुनाई), पत्थर, पारा और धातु (सोना आदि) की कारीगरी। वास्तु तत्त्व की सिद्धि में अष्टाङ्ग स्थापत्य का विशेष महत्त्व है[७]—

१. वास्तु-पुरुष की विकल्पना अर्थात् साइट—प्लानिंग। यह नगर निवेश, भवन-निवेश अथवा प्रासाद-निवेश की प्रथम इकाई है, जिसमें दिक्सामुख्य आदि पर पूर्णरूपेण विचार किया जाता है।

२. पुर-निवेश, द्वार-कर्म, रथ्या-विभाग, प्राकार-निवेश, अट्टालक-निवेश, प्रतोली-विनिवेश और विभाग-स्थान (अन्य नगर विभाग)। इसमें रक्षा, यातायात एवं स्थानादि विभाग के लिए चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं में महाद्वारों एवं पक्षद्वारों का विधान किया जाता हैं। द्वार-कर्म प्राकार-वलय पर आधारित नगर के चारों ओर प्राकार-रचना, परिखा-खनन, वप्र-निर्माण, अट्टालक-विनिवेश आदि नगर-निवेश का प्रमुख अंग है। साथ ही इसमें नगर के मार्गों (राजमार्ग, रथमार्ग, यानमार्ग, घण्टामार्ग आदि) तथा प्रतोली (गली) आदि उपमार्गों का विधान किया जाता है।

३. प्रासाद-निर्माण मुख्यत: देवमन्दिर-निर्माण से सम्बन्धित है।

४. ध्वजोच्छ्रिति (इन्द्रध्वज की ऊँचाई)।

५. नृपति-वेश्म अर्थात् राजवेश्म। प्रासाद तथा नगर-निवेश के समान इसमें राजोचित नानाहर्म्यों, भवनों, सौधों के साथ पाँच, छः, सात कक्षाएँ, मण्डप, क्रीडास्थान, पड़ाव, दूतावास आदि के साथ-साथ बाजार, सड़के और चित्रशालाएँ आदि निवेश्य होती हैं।

६. भवन-निवेश-चातुर्वर्ण्य-विभागानुसार तथा व्यवसाय-जीवियों पर आधारित होता है।

७. सातवाँ अंग यजमान की शाला का मान, यज्ञ-वेदी-प्रमाण और कोटि-होम-विधि बताया गया है ।

८. आठवाँ महत्त्वपूर्ण अंग राज-शिविर-निवेश (छावनी) और दुर्ग-कर्म है ।

वास्तुशास्त्र के पाँच मौलिक सिद्धान्त हैं, जो कि किसी भी निवेश के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं[८]—

१. वास्तु-पद-विन्यास– वास्तु-पुरुष-विकल्पन, वास्तु-पुरुष-मण्डल अथवा वास्तु-पद-विन्यास अष्टाङ्ग भारतीय स्थापत्य का प्रथम अङ्ग है, जो कि योजना के रूप में परिकल्पित होता है । भारतीय स्थापत्य का जन्म वैदिक यज्ञ-वेदी से हुआ है। यथा-यज्ञ में यज्ञ-पुरुष की कल्पना तथैव वास्तु-विनिवेश में वास्तु-पुरुष की कल्पना केन्द्रीभूत है ।

२. दिक्सामुख्य अर्थात् प्राची-साधन या शङ्कु-स्थापना– भारतीय स्थापत्य प्रारम्भ से ही प्राची दिशा का पोषक रहा है, जो कि भगवान् भास्कर के उदयस्थल होने से बड़ा ही स्वास्थ्यकर है । गरुणपुराण में कहा गया है कि—

'ईशान कोणादारभ्य ह्येकाशीतिपदे यजेत्' ।[९]

'ईशाने च शिरःपादौ नैर्ऋतेऽग्न्यानलेलरौ ।

अपि च–

आवासवासवेश्मादौ पुरे ग्रामे वणिक्पथे' ।।[१०]

३. मान या हस्त-लक्षण – वास्तु-विन्यास में नाप की परम उपादेयता है, जिसका कि इस शास्त्र में बड़ा सूक्ष्म एवं विशद विचार किया गया है । अव्यक्त को व्यक्त रूप में बिना मान के परिणत नहीं किया जा सकता । मयाचार्य का कहना है कि—

'मानं धाम्नस्तु सम्पूर्णं जगत्सम्पूर्णता भवेत्' ।

समराङ्गण-सूत्रधार का भी स्पष्ट उद्घोष है कि—

'प्रमाणे स्थापिता देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति ते ।'

४. आयादि-षड्वर्ग–आय, व्यय, अंश, ऋक्ष, योनि तथा वार-तिथि इन छः का समूह ही आयादि-निर्णय है । इन छहों अङ्गों के प्रत्यङ्ग भी हैं, जो कि ज्योतिष-गणना के अनुरूप होने से बड़े वैज्ञानिक एवं उपादेय हैं ।

५. पताकादि-षट्-छन्दस् –छन्द का सम्बन्ध पद्यमय रचना से है । इससे वास्तुकला एक यान्त्रिक कला न रहकर मनोरम-कला में परिणत हो जाती है । इसी से हम बाह्यरूप को देखकर ही समझ लेते हैं कि यह जन-भवन है या विशिष्ट-भवन, विश्वविद्यालय है या फैक्ट्री । वास्तु-छन्द एक प्रकार से व्याकरण का 'इत्थंभूतलक्षणे' की व्याख्या है ।

वास्तुराजवल्लभ के अनुसार—

'कैलासे नगरं शिवेन रचितं गौर्यादि संरक्षणे ।'

'भारतीय वास्तुशास्त्र[११], के अनुसार नगर, मन्दिर, दुर्ग पुष्कर और साम्परायिक, निवास, सदन, सद्म, क्षय, शितिलय—ये सभी नगर के पर्याय हैं, जिनसे नगर-विकास सूचित होता है । इसी नगरवास्तु का कथन अग्निपुराण में कुछ इस प्रकार किया गया है—

'नागरादिकवास्तुं च वक्ष्ये राज्यादिवृद्धये ।
योजनं योजनार्धं वा तदर्थं स्थानमाश्रयेत् ।।
अभ्यर्च्य वास्तुनगरं प्राकाराढ्यं तु कारयेत् ।'[१२]

भारतीय-स्थापत्य-शास्त्र नगर के निम्न प्रभेद दर्शाता है[१३]—

१. पुर २. नगर ३. नगरी ४. कुब्जक ५. पत्तन ६. राजधानी ७. दुर्ग ८. खेट ९. खर्वट १०. शिविर (सेना मुख, स्कन्धावार) ११. स्थानीय १२. द्रोण-मुख १३. कोट्टमकोलक १४. निगम १५. मठ या विहार ।

इनमें नगर की शब्द व्युत्पत्ति सम्भवतः नग (न गच्छतीति नगः) से हुई है, जो कि इसकी दृढ़ता एवं स्थायित्व का बोध कराती है । इसमें पक्के मकान, दीवारें तथा छतें पाषाण शिलाओं अथवा तप्त इष्टकाओं से निर्मित होती हैं । ऋग्वेद में निम्नलिखित इष्टकाओं का नामोल्लेख प्राप्त

होता है — स्वयमातृण्णा, द्वियजूष, रेत:सिच्, विश्वज्योति:, आषाढ़ा, अपस्या, प्राणभृत्, लोकम्पृणा, आश्विनी, वैश्वदेवी, ऋतव्या:, छन्दस्या:, वालखिल्या, स्तोम, स्पृता:, सृष्टि, असपन्ना, स्तोमभाग, नाकसदस्, अर्धपद्य, पञ्चचूड़, विकर्णी आदि ।

नगरवास्तुसौरभ[१४] के अनुसार बीस प्रकार की नगर रचना शुभ होती है—१. महेन्द्र (चतुरस्त्रम्) २. सर्वतोभद्रम् (आयताकारम्) ३. सिंहम् (वृत्तम्) ४. वारुणम् (वृत्तायतम्) ५. नन्दम् (विमुक्तकोणम्) ६. नन्दावर्तकम् (स्वस्तिकाकारम्) ७. जयन्तम् (यवाकारम्) ८. दिव्यम् (गिरेर्मस्तके) ९. पुष्पपुरम् (अष्टदलम्) १०. पौरुषम् (पुरुषाकृतिम्) ११. स्नाहम् (मधुरकुदिपथुस्थितम्) १२. दण्डम् (दैर्घ्यम्) १३. शक्रपुरम् (प्राक्सरित:) १४. कमलपुरम् १५. धार्मिकपुरम् १६. महाजयम् १७. सौम्यम् १८. श्रीनगरम् १९. रिपुघ्नम् तथा २०. स्वस्तिकम् । इसमें इन सभी आकारों के चित्र भी दिये गये हैं । साथ ही साथ सात अशुभ आकार वाले नगरों का भी सचित्र उल्लेख है, जो कि इस प्रकार हैं— १. अग्निभय (त्रिकोण) २. नगरक्लेशदम् (षट्कोण) ३. बिजलीभय (बज्राकारम्) ४. रोगभय (शकटाकारम्) ५. युद्धभय (त्रिशूलाकारम्) ६. चोरभय (द्विशकटाकारम्) तथा ७. धनक्षय (कर्णाधिकम्) ।

इन समस्त विनिवेशों का वैज्ञानिक आधार यह है कि जिस देश में जैसा वायु-प्रवहण हो, उसी के अनुसार नगर रचना होनी चाहिए ।

नगर वास्तु में द्वादश राशियों[१५] की शुभकारक स्थिति पर भी पूर्ण विचार किया गया है, जो कि इस प्रकार हैं—

	उत्तर/पूर्व	पूर्व	दक्षिण/पूर्व	
	कुम्भ	वृश्चिक	मीन	
उत्तर	मेष	वृषभ, मिथुन, सिंह, मकर	कन्या	दक्षिण
	तुला	धन	कर्क	
	उत्तर/पश्चिम	पश्चिम	दक्षिण/पश्चिम	

इसी प्रकार वर्गचक्र[१६] के अन्तर्गत आठ वर्गों का समावेश निम्न प्रकार से किया गया है—

	उत्तर/पूर्व	पूर्व	दक्षिण/पूर्व	
	मेष वर्ग श,ष,स,ह ८	गरुड़ वर्ग अकारादिस्वर १	मार्जार वर्ग क वर्ग २	
उत्तर	मृग वर्ग य,र,ल,व ७	✳	सिंह वर्ग च वर्ग ३	दक्षिण
	मूषक वर्ग प वर्ग ६	सर्प वर्ग त वर्ग ५	श्वान वर्ग ट वर्ग ४	
	उत्तर/पश्चिम	पश्चिम	दक्षिण/पश्चिम	

अपने वर्ग से पाँचवाँ वर्ग वैर वर्ग कहलाता है । यथा गरुड-सर्प, मार्जार-मूषक, सिंह-मृग तथा श्वान-मेष । इन वैर वर्ग के नाम वाले नगर में तथा दिशा में निवास नहीं करना चाहिए । नगर रचना का प्रारम्भ करने के लिए पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख एवं ज्येष्ठ को शुभ माना गया है । इसके अतिरिक्त मार्गशीर्ष और आश्विन को भी प्रशस्त माना जाता है । मेष, वृषभ, मिथुन, वृश्चिक, मकर और कुंभ संक्रान्ति में नगर का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार सिंहस्थ गुरु में, गुरु के अस्त में, वक्री गुरु में, शुक्र के अस्त में, क्षीण चन्द्र में एवं अधिक या क्षयमास में भी नगर रचना का आरम्भ नहीं करना चाहिए । नगर-प्रवेश के लिए मंगलवार के अलावा सभी दिन प्रशस्त हैं । पुष्य, हस्त, स्वाति, श्रवण, धनिष्ठा, शततारका नक्षत्र एवं स्थिर या मृदुसंज्ञक नक्षत्रों में तथा शुभ योगों में नगर-प्रवेश करना चाहिए ।

नगर रचना में वीथिक्रम[१७] से भूमि का नौ प्रकार से विभाजन किया गया है—

१. गोवीथि - पश्चिम में ऊँची और पूर्व में नीची - पुत्रदायक

२. जलवीथि - पूर्व में ऊँची और पश्चिम में नीची - पुत्रनाश

३. यमवीथि - उत्तर में ऊँची और दक्षिण में नीची

४. गजवीथि - दक्षिण में ऊँची, नैर्ऋत्य कोण में नीची

५. भूतवीथि - ईशानकोण में ऊँची, वायव्य कोण में नीची

६. नागवीथि - अग्निकोण में ऊँची, वायव्य कोण में नीची

७. वैश्वानरीवीथि - वायव्य कोण में ऊँची, अग्निकोण में नीची

८. धनवीथि - नैर्ऋत्य कोण में ऊँची, ईशान कोण में नीची

९. पितामहवीथि - पूर्व-अग्नि के मध्य में नीची और वायव्य-पश्चिम के मध्य में नीची ।

अष्ट दिशाओं के कुण्ड[१८] प्रकार कुछ इस प्रकार वर्णित हैं :-

१. चतुष्कोण कुण्ड - पूर्व

२. योनि कुण्ड - दक्षिण/पूर्व

३. अर्धचन्द्र कुण्ड - दक्षिण

४. त्रिकोण कुण्ड - दक्षिण/पश्चिम

५. वर्तुल कुण्ड - पश्चिम

६. षट्कोण कुण्ड - उत्तर/पश्चिम

७. पद्म कुण्ड - उत्तर

८. अष्टकोण कुण्ड - उत्तर/पूर्व

विश्वकर्माप्रकाश, अग्निपुराण तथा गरुडपुराण में किस दिशा में क्या, वर्णक्रम से किसके लिए कौन दिशा उपयुक्त है ? तथा कैसे किस प्रकार से अनिष्टों से बचा जा सकता है ? आदि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है ।

संक्षेप में, शुभफलदायी नगर-निवेश के निम्नांकित अंग विशेष महत्त्व के हैं, जिनका विधिवत् पालन करने से विज्ञान और प्रकृति का सन्तुलन बना रहता है और उत्तरोत्तर विकास अशुभ निवृत्तिपूर्वक निरन्तर होता रहता है —

१. देश मापन-देश चयन

२. भू-परीक्षा-भूमिसंग्रह, भूमि चयन - मृत्तिका परीक्षा

३. दिक्परीक्षा

४. पद-विन्यास - वास्तु-पद-विभाजन अर्थात् निवेश्य स्थल का विभाजन और वर्गीकरण

५. नगर की अभिवृद्धि के लिए शान्तिक एवं बलिकर्म विधान

६. मार्ग-विन्यास

७. प्राकार-परिखा-वप्रादि-विन्यास-योजना एवं द्वार व गोपुर-विधान

८. भवन-निवेश

९. मण्डप-विधान (मन्दिर-देवायतन)

१०. राजवेश्म

११. आरामोद्यान, पुष्पवीथिकाएँ, पुरजन-विहार तथा सर्वजनसाधारण-भवन

१२. गर्हित पुरवर्जन

ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ नगरों के ये तीनों प्रकार उपर्युक्त अङ्गों का विधिवत् पालन करते हुए उसमें निवास करने वाले मनुष्यों के लिए चतुर्वर्गफलप्राप्ति का साधन बनते हैं—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिस्सल्लोकश्च भवेद् ध्रुवम् ।
शिल्पशास्त्रपरिज्ञानान्मर्त्योऽपि सुरतां व्रजेत् ।।[११]

कारण, यहाँ का स्थापत्य, विद्युत्पतन, अग्निभयादि अशुभनिवृत्तिपूर्वक जलादि समुचित पाञ्चभौतिक व्यवस्थासम्पन्न, कीर्ति, आयु, धन, धान्य, सम्पत्ति-वृद्धिकारक वास्तुसम्मत है। नगरवास्तु तो पूर्णतया समुन्नत औद्योगिकी, सर्वथा प्रदूषणमुक्त पर्यावरण तथा भौतिक सुख-शान्ति-समृद्धि-आयु व स्वस्थ वातावरण- प्रदायी है। यह पञ्च महाभूतों के गुण-धर्मों का विचार कर इनमें तथ्यमूलक तारतम्य स्थापित करने का मार्ग दिखाता है। अतः यह पूर्णतया वैज्ञानिक है।



सन्दर्भ-सूची

१. अमरकोश, नाग प्रकाशन, भाग ३, पृ० १२३३
२. निरुक्त १०/१६
३. समराङ्गणसूत्रधार १/४
४. भारतीय भवन निर्माण योजना, नन्द किशोर झाझरिया, पृ० १३
५. समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु शास्त्रीय भवन-निवेश, प्रथमभाग, डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, पृ० १९
६. समराङ्गणसूत्रधार ८/१-४
७. तदेव ९/१-७
८. समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु शास्त्रीय भवन-निवेश, प्रथम भाग, डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल पृ० ३०
९. गरुडपुराण २०/१
१०. गरुड पुराण २०/२
११. समराङ्गण-सूत्रधार, 'नगरादि संज्ञा' - १८वाँ अध्याय
१२. अग्निपुराण, ४१/१-२
१३. भारतीय स्थापत्य, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, १५५ डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल पृ० ५६
१४. नगरवास्तुसौरभ, एम०एस०यूनिवर्सिटि बड़ौदा से प्रकाशित स्मारिका, २०००
१५. तदेव
१६. तदेव
१७. तदेव
१८. तदेव
१९. विश्वकर्मा-वास्तुशास्त्र २/३०

●

सूर्य-तत्त्व-मीमांसा

तत्त्व शब्द तत् (सर्वनाम पद) तथा त्व (भाववाचक संज्ञा विधायक) पदों का सम्मिश्रण है। 'तत्' किसी भी संज्ञावाचक पद के स्थान पर प्रयुक्त होता है— चाहे वह संज्ञा पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्ग कोई भी हो। 'त्व' का प्रयोग हम भाववाचक संज्ञा बनाने में करते हैं— चाहे वह संज्ञा व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, पदार्थवाचक अथवा समूहवाचक कोई हो। यथा-नरत्व, देवत्व, सुरत्व-असुरत्व आदि। 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है—उसकी वास्तविक स्थिति या दशा, उसका अपनापन, उसकी विशिष्टता अथवा उसका सारभूत निजत्व जो अन्यत्र लभ्य न हो। इस प्रकार 'सूर्य-तत्त्व' का अभिप्राय है सूर्य का निजत्व, सूर्य की अपनी विशिष्टता, उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अस्तित्व एवं सार से सार भाग। मीमांसा से तात्पर्य - गहन विचार, अनुसन्धान एवं परीक्षण से है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत शोध-पत्र 'सूर्य-तत्त्व' के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अस्तित्व एवं सार से सार भाग पर गहन विचार, अनुसन्धान एवं परीक्षण का प्रयास है।

'सूर्य' शब्द की निरुक्ति - **'सूर्यः सतेर्वा सुवतेर्वा'**[1] इस प्रकार यास्क ने की है। सायण भाष्य के अनुसार - **'सरति गच्छति वा सुवति प्रेरयति वा तत्तद् व्यापारेषु कृत्स्नं जगदिति सूर्यः। यद्वा सुष्ठु ईर्यते प्रकाशप्रवर्षणादिव्यापारेषु प्रेर्यते इति सूर्यः।'**[2] तथा निघण्टु में - **'स्वरति-आचरति कर्म स्वीर्यते अर्च्यते भक्तैरिति सूर्यः'**[3] इस प्रकार है। विष्णुसहस्रनाम में आचार्य शङ्कर सूर्य को कुछ इस प्रकार परिभाषित करते हैं - **'सूते श्रियमिति सूर्यः।'**[4] बृहद्देवता के अनुसार- **'सूर्यः सरति भूतेषु सुवीरयति तानि वा। सु ईर्यत्वाय यो ह्येषः सर्वकर्माणि सन्दधत्॥'**[5]

'सिद्धान्तकौमुदी' के कृत्य-प्रकरण के **'राजसूयसूर्य०'** सूत्र से निपातन कर सूर्य शब्द की सिद्धि इस प्रकार है- **'सरति (गच्छति) आकाशे इति सूर्यः'** (भ्वादि. प०), यद्वा **'षू प्रेरणे'** (तुदादि प०), क्यपो रुट्, **'सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति सूर्यः।'** आदि

इस प्रकार 'सूर्य' शब्द की व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि सूर्य भगवान् चेतन हैं। कारण, प्रेरकता चेतन का ही गुण है। इसके अतिरिक्त

'रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात् सूर्यः' - अर्थात् रश्मियों को, प्राणों को और रसों को स्वीकार करने से इन्हें सूर्य कहा जाता है तथा आकाश में गमन करने से, उदयकाल में लोगों को कर्म करने में प्रेरणा करने से अथवा सर्व जगत् को उत्पन्न करने वाला होने से भी भुवन-भास्कर को सूर्य कहा जाता है। सूर्यनारायण परब्रह्म परमात्मा - ईश्वर के अवतार हैं। अव्याकृत परमात्मरूप, सर्वप्राणियों के जीवन के हेतुरूप, प्राणस्वरूप, सबको सुख देने वाले तथा सचराचर जगत् के उत्पादक सूर्य ईश्वर रूप हैं। अत: ये ईश्वरावतार भगवान् सूर्य ही सबके उपास्य देव हैं। जगत् के व्यवहार में काल, देश, क्रिया, कर्त्ता, करण, कार्य, आगम, द्रव्य और फल - ये सब सूर्य हैं। समस्त जगत् के कल्याण और देवता आदि की तृप्ति के आधार सूर्य भगवान् हैं। अत एव सूर्य सर्वजगत् की आत्मा हैं—

'ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं, चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं, सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।'[७]

प्रकाशमान रश्मियों का समूह अथवा राशि-राशि देवगण सूर्यमण्डल के रूप में उदित हो रहे हैं। यह मित्र, वरुण, अग्नि और सम्पूर्ण विश्व के प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं। इन्होंने उदित होकर द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरक्षि को अपने देदीप्यमान तेज से सर्वत: परिपूर्ण कर दिया है। यह अन्तर्यामी होने के कारण सबके प्रेरक परमात्मा हैं तथा स्थावर एवं जङ्गम सृष्टि के आत्मा हैं। कारण, स्थावर-जङ्गमात्मक कार्यवर्ग के कारण हैं और कार्य कारण से अतिरिक्त नहीं होता[८]। चराचर जगत् का जीवनदाता होने से सूर्य को आत्मा कहा है। सूर्योदय होने पर निश्चेष्ट जगत् चेतनयुक्त, सचेष्ट हो जाता है। सूर्य सबका प्राण अपने साथ लेकर आता है[९]। जो सबका आत्मा है, वही सब शरीर में स्फुरित 'मैं - मैं, का एक आत्मा है अर्थात् सूर्यान्तर्यामी और अन्त:करणान्तर्यामी चैतन्य उपाधि निर्मुक्त दृष्टि से एक ही है। सूर्य शब्द का मूल ही है 'सृ' धातु - जिसका अर्थ है गति अथवा 'षु' धातु जिसका अर्थ प्रेरणा है- **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** तात्पर्य यह कि प्रेरक परमात्मा ही सूर्य है।

मन्त्रभाग (वेद) में बीज रूप से जिस सूर्यतत्त्व का उल्लेख हुआ है, उसका ही तूल रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्लेषण हुआ है । ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर विश्व के मूल में दो तत्त्व उपलब्ध होते हैं- अग्नि और सोम । इनसे उत्पन्न विश्व के पदार्थ भी दो रूपों में उपलब्ध होते हैं- शुष्क और आर्द्र । जो शुष्क है, वह आग्नेय और जो आर्द्र है वह सौम्य । सूर्य शुष्क है तो चन्द्रमा सौम्य है । ऋग्वेद भी कहता है कि परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्रमा को यथापूर्व - पूर्वकल्पवत्-निर्माण किया है- **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।**[10]**'**

प्रश्नोपनिषद् में सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है । स्त्री-शक्ति को रयि कहते हैं । प्राण **स्वयं-प्रकाशी** है और रयि **पर-प्रकाशी** है[11] । चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य से लिया हुआ प्रकाश है । ब्रह्म का प्रथम आविष्कार आदित्य या सूर्य ही है, जिससे सम्पूर्ण सौर मण्डल बना हुआ है । **'आदित्यो ब्रह्मेति'**[12] आदित्य ब्रह्म है- इसकी व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् में विस्तार से की गयी है । सूर्योपनिषद् भी कहता है—

'त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि, त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि ।

आदित्याद्देवा जायन्ते, आदित्याद् वेदा जायन्ते ।

आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति असावादित्यो ब्रह्म।।'

हे सूर्य ! तुम प्रत्यक्ष कर्म-कर्त्ता हो तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश हो । आदित्य से देव उत्पन्न होते हैं । आदित्यमण्डल तप रहा है । यह प्रत्यक्ष चिन्मूर्ति ब्रह्म का वैभव है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आदित्य, अग्नि और सोम को ब्रह्म कहा गया है । कौषीतकि ब्राह्मण कहता है—

'एतद् वै ब्रह्म दीप्यते यथादित्यो दृश्यते'[13] ।

इस प्रकार सूर्य का तपना और प्रकाशित होना सर्वव्यापी परमात्मा की अन्तर्निहित शक्ति के कारण है । इसे इस प्रकार से भी कहा गया है कि—**'भीषोदेति सूर्यः'**[14] । सूर्य आदि सभी परमात्मा के भय से या उनकी इच्छा अथवा प्रेरणा से और उनके संकेत पर अपने-अपने कार्य में लगे हुए हैं—

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।[15]'

गायत्री-मन्त्र में सविता को देव कहा गया है । सूर्य प्रत्यक्ष देवता है । सूर्यमण्डल उनका तेज है—**'देवस्य भर्गः'** । समस्त प्राणियों के नेत्रों में मूलशक्ति सूर्य की है—**'सूर्यश्चक्षुः[16]'** । जब विराट् पुरुष प्रकट हुआ तो उसके नेत्र में सूर्य ने प्रवेश किया—

'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्[17]' । इस प्रकार सूर्य भगवान् के नेत्र हैं । बृहदारण्यक में विश्वव्यापी ब्रह्म के दो रूप वर्णित हैं - मूर्त एवम् अमूर्त । मूर्त रूप ब्रह्माण्ड में आदित्य मण्डल है और पिण्ड में चक्षु । अमूर्त रूप वह ज्योतिर्मय रस है, जो ब्रह्माण्ड में आदित्यमण्डलस्थ 'पुरुष' के रूप में और पिण्ड के अन्तर्गत चक्षु में विराजमान है । इस प्रकार आदित्य और चक्षु का एकीकरण है, तादात्म्य है[18] । ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकता है । सूर्य ही सब लोगों के चक्षु हैं **'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः'[19]** । इसीलिए इन्हें जगच्चक्षु कहा जाता है । चक्षु रूप को देखती है अर्थात् रूप में प्रतिष्ठित है । आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है । प्रश्न उठता है कि रुप किसमें प्रतिष्ठित है ? श्रुति कहती है कि रूप हृदय में प्रतिष्ठित है । तात्पर्य यह कि दृश्यमान रूपों को सूर्य बनाते हैं, जिनका अनुभवकर्त्ता हृदय है[20] । रूप मुख्य रूप से दो हैं - शुक्ल और कृष्ण । आदित्य का वर्ण कृष्ण है और उनकी ज्योति हिरण्यमयी है, जो शुक्ल की समवर्तिनी है । इस प्रकार सूर्य सब रूपों के निर्माण में सक्षम हैं[21] । रूप का अनुभवकर्त्ता हृदय है । हृदय भगवान् का निवास है । उसी की शक्ति से.रूप का बोध होता है । आशय यह है कि आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म अनुभूति का विषय है ।

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[22]' । तत्त्वदर्शियों से लेकर विज्ञानवेत्ताओं तक सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि 'सूर्य ही जगत की आत्मा हैं ।' ये ही मानवीय जीवन, प्रज्ञा और विज्ञान के आदि उत्स हैं । सूर्य से ही ब्रह्माण्ड उत्सर्गित है । ये सूर्य जो उदित होते हैं, प्रजाओं के प्राण हैं—**'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।[23]'**

इसी उपनिषद् में आदित्य (अग्नि) की 'प्राण' और सोम की 'रयि' संज्ञाएँ बतायी गयी हैं । प्रजापति ने इन दोनों को उत्पन्न करके इनमें सृष्टि

का विस्तार किया। मूर्त्त (पृथ्वी, जल और तेज) तथा अमूर्त (वायु एवम् आकाश) ये सब रयि हैं[24] । अर्थात् दिखने व जानने में आने वाली सभी वस्तुएँ रयि हैं। सूर्य जीवनी-शक्ति और चेतना शक्ति के घनीभूत रूप हैं। चन्द्रमा में स्थूल तत्त्वों (माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा आदि) को पुष्ट करने वाली भूत तन्मात्राओं की अधिकता है। इस प्रकार समस्त प्राणि वर्ग में रवि एवं शशि की इन शक्तियों का सम्यक् समावेश है।

सावित्री उपनिषद् के एक प्रसङ्ग में पूछा गया है कि सविता क्या है ? और सावित्री क्या है ? उत्तर है कि - अग्नि और पृथ्वी, वरुण और जल, वायु एवं नक्षत्र, मन एवं वाणी तथा पुरुष एवं स्त्री ये सविता और सावित्री के विविध जोड़े हैं और इन्हीं जोड़ों से विश्वोत्पत्ति हुई है[25] । आदित्य सविता है और द्युलोक सावित्री है। अत: जहाँ आदित्य है, वहाँ द्युलोक है, जहाँ द्युलोक है, वहाँ आदित्य हैं। ये दोनों विश्व के उत्पादक (योनि) हैं।

सूर्य ही काल चक्र एवं पृथ्वी के नियामक और प्रकाशक हैं। ये सूर्य कल्प, युग, संवत्सर, मास, पक्ष, दिवस, रात्रि, घटी, पल और क्षण-सबके निर्माता हैं— **'कालचक्रप्रणेतारं श्रीसूर्यनारायणम्[26]'** । ऋग्वेद में दो पक्षों के तीस दिन-रात्रि सूर्य के तीस अङ्ग या धाम कहे गये हैं। **'त्रिंशद्धाम वि राजति[27]'** संवत्सर के बारह मासों के बारह आदित्य - देवता, जो सब कुछ ग्रहण करते-कराते चलते हैं, इसी से ये आदित्य कहलाते हैं :—

'कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत
आदित्य एते...सर्वमाददाना यान्ति तस्मादादित्या इति ।।[२८]'

अपि च-

''संवत्सरोऽसावादित्यः[29]'' ।

तेरहवें अधिमास को भी ये ही सूर्य बनाते हैं—

'अहोरात्रैर्निर्मितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।[३०]'

आगम-निगम-संस्तुत और ज्ञान-विज्ञान-सम्मत देवाधिदेव परम देवता सूर्य ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के हेतु एवं सत्त्व, रज तथा तम- इन तीनों गुणों के आश्रय भी हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश - इन त्रिदेवों का प्रतिरूपत्व अर्थात् यह 'त्रयीमयत्व' ही सूर्यतत्त्व है। विरञ्चिनारायणशङ्करात्मा सूर्य का ही तेज सृष्टि काल में ऋक्मय ब्रह्मस्वरूप, स्थितिकाल में यजुर्मय विष्णु स्वरूप तथा संहारकाल में' साममय रुद्रस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसीलिए सूर्य को वेदात्मा, वेदसंस्थित, वेदविद्यामय और परमपुरुष कहा जाता है। ऋक्, यजु: और साममय- अर्थात् शान्तिक, पौष्टिक और आभिचारिक तेज ही क्रमश: प्रात:, मध्याह्न और अपराह्न में ताप देते हैं। पूर्वाह्न के ऋक्तेज की संज्ञा शान्तिक, मध्याह्न के यजुस्तेज की पौष्टिक और सायाह्न के साम तेज की ही आभिचारिक संज्ञा है। इसीलिए समस्त देवतागण सदैव इनकी स्तुति करते रहते हैं[31]। (विष्णुपुराण द्वितीय अंश ११/७-१६) दृष्टव्य।

'जगच्चक्षु' 'गुरूणां गुरु:', 'शतधा वर्तमान' सूर्य की सैकड़ों क्रियाएँ निष्क्रिय ब्रह्म की अनन्तानन्त क्रियाओं की भाँति अनगिनत हैं। पुनरपि सूर्य के मुख्य-मुख्य कर्म-प्रकाश एवम् उष्मादान, धी को प्रेरित करना, ग्रह-उपग्रहों की सृष्टि एवम् उनका धारण, उनका सञ्चालन प्रभृति, काल-नियन्त्रण उनकी निर्लिप्तता तथा पवित्र करने की क्रिया आदि है। ज्योतिषशास्त्र तथा चिकित्सा विज्ञान की प्रणालियों के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी हैं। भगवान् सूर्य समस्त ग्रहों के राजा हैं। चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, ग्रह तथा नक्षत्र मण्डल सूर्य रश्मि से उत्पन्न होकर उसी में प्रतिष्ठित-अधिष्ठित रहते हैं। जिस प्रकार गृह-मध्य-स्थित दीपक ऊपर नीचे सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अखिल जगत् के अधिपति सूर्य हजारों रश्मियों से ऊपर-नीचे के भागों को प्रकाशित करते हैं। गणित (बीज- गणित, अङ्कगणित, ज्यामिति), होरा एवं संहिता-इन तीन स्कन्धों से युक्त ज्योतिष- शास्त्र वेद का चक्षुभूत प्रधान अङ्ग है। इस विद्या से भूत, भविष्य, वर्तमान, अनाहत, अव्यवहित, अदृष्ट-पदच्छिन्न सभी वस्तुओं तथा त्रिलोक का हस्तामलकवत् ज्ञान हो जाता है। इस महनीय ज्योतिष शास्त्र के प्राण तथा आत्मा और ज्योतिश्चक्र के प्रवर्तक

ये भगवान् सूर्य ही हैं। इनके ही द्वारा दिशाओं का निर्माण, कला, काष्ठा, पल, घटी, प्रहर से लेकर अब्द, युग, मन्वन्तर तथा कल्पपर्यन्त कालों का विभाजन एवं गणना सम्भव है।

'आरोग्यं भास्करादिच्छेत'—इस पुराण-वचन तथा **'न तस्याक्षिरोगो भवति'**—अक्ष्युपनिषद् के इस वाक्य से सूर्य का रोगहारक व स्वास्थ्यवर्धक रूप भी स्पष्ट होता है। वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों के मत से सूर्य की किरणें अनेक रोगों को विनष्ट करती हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सूक्त ५०वें के ८, ११ व १३वें मन्त्र से इस बात की पुष्टि होती है कि सूर्य उदित होकर और उन्नत आकाश में चढ़कर हमारा मानस (हृदयस्थ) रोग और पीतवर्णरोग एवं शरीररोग विनष्ट कर देते हैं—

'उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।

हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥[32]'

नेत्रों के अधिपति सूर्य देवता की स्तुति एवम् उपासना से नेत्र-ज्योति एवम् आयु की वृद्धि होती है—

'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्[33]। ये वस्तुतः मित्र, वरुण, अग्नि, चक्षु, प्राण, अपान, जठर, वायु और जल सभी के अद्भुत प्रवर्तक हैं, जिससे जीवन सञ्चालित एवं सुस्थिर व नीरोग रहता है।

गायत्री महाविज्ञान तो समग्रतः सूर्य का ही विवेचन है। गायत्री महामन्त्र के देवता सूर्य का ही दूसरा नाम सविता भी है। सविता की अधिष्ठात्री देवी होने के कारण गायत्री का दूसरा नाम सावित्री भी है। इस प्रकार ये दोनों एक ही आद्य शक्ति के 'ज्ञान और विज्ञान' नामक दो पहलू हैं। शरीर और प्राण में जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध सविता और सावित्री में है। साकार उपासना में गायत्री माता का ध्यान सदैव सूर्यमण्डल के मध्य में विराजमान महाशक्ति के रूप में किया जाता है। निराकार उपासना करने वाले भी चिदाकाश एवं महदाकाश में प्रतिष्ठित तेज मण्डल के रूप में ही उसका ध्यान करते हैं। सूर्य के बिना तो गायत्री महाशक्ति का ध्यान हो ही नहीं सकता—

'गायत्री भावयेद्देवी सूर्यासारकृताश्रयाम् ।[34]'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्यतत्त्व का विवेचन छान्दोग्योपनिषद् प्रतिपादित 'आदित्यो ब्रह्मेति' के अनुसार ब्रह्म की ही भाँति इतना बृहद् है कि समग्र रूप में प्रस्तुत कर पाना अत्यधिक दुष्कर है । फिर भी संक्षेप में प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से सूर्यतत्त्व की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का प्रतिपादन करने का मैंने यहाँ प्रयास किया है । प्रयास की सफलता - असफलता की तुला सुधी जनों को समर्पित है ।



सन्दर्भ-सूची

१. निरुक्त १२/२/१४

२. ऋग्० ९/११४/३ पर सायण भाष्य

३. निघण्टु ३/१

४. विष्णुसहस्रनाम १०७

५ बृहद्देवता ७/१२८/१

६. सिद्धान्तकौमुदी, पा० ३/१/११४

७. ऋग्० १/११५/१, यजु० ७/४२

८. ब्रह्मसूत्र २/१/१४

९. तैत्ति० आ० १/१४/१

१०. ऋग्० १०/११०/३

११. प्रश्नो० १/४

१२. छान्दो० ३/१९/१-४

१३. कौषी०ब्रा० १२

१४. तैत्ति०उप० २/८/१

१५. कठो० २/३/३

१६. बृहदा० उप० १/१/१

१७. ऐतरेयो० १/२/४

१८. बृहदा०उप० २/३/१-५

१९. कठो० २/२/११

२०. बृहदा०उप० ३/९/२०

२१. कठो० २/२/९

२२. ऋग्० १/११५/१, यजु० ७/४२

२३. प्रश्नो० १/८

२४. प्रश्नो० १/४

२५. सा०उप० १/९

२६. सूर्योप०

२७. ऋग्० १०/१८९/३

२८. बृहदा०उप० ३/९/५

२९. नारायणो० ३/७९

३०. अथर्व० १३/३/८

३१. विष्णु पुराण द्वितीय अंश ११/७-१६ दृष्टव्य

३२. ऋग्० १/५०/११

३३. यजु० ३६/२४

३४. शाकानन्दतरङ्गिनी ३/४/१

पाणिनीयव्याकरणस्य प्रक्रियाणां व्यावहारिकज्ञानम्

'वाणी व्याकरणेन शुध्यति' अथवा यूँ कहें कि—

अवैयाकरणः खल्वेषः खलो यो दूषयति भाषाम् ।

स्खलितीकरोति शब्दार्थौ, खलीकरोति वा साहित्यम् ।।

स्पष्ट है कि हमारे दैनिक व्यवहार में भाषा का क्या स्थान है और यदि भाषा शुद्ध नहीं हुई तो—

'यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।

स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलः शकलः सकृत् शकृत् ।।

और यह भाषा की शुद्धि व्याकरण ज्ञान से ही सम्भव है । संस्कृत भाषा में व्याकरण का जितना सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन है, उतना संसार की अन्य किसी भी भाषा में नहीं है । यास्क मुनि ने ईसा से ८०० वर्ष पूर्व सर्वप्रथम 'निरुक्त' नामक शब्द निरुक्ति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया था, जिसमें नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात नामक शब्दों का चतुर्विध विभाजन था । इसी विभाजन को आधार बनाते हुए लगभग ५०० वर्ष ईसा-पूर्व महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी का निर्माण किया, जो व्याकरण की अतीव सुदृढ़, सुसंयत तथा शृङ्खलाबद्ध रचना कही जा सकती है । पाणिनीय व्याकरण की समस्त प्रक्रिया जितनी वैज्ञानिक एवं परिपूर्ण शैली में है, उतनी अन्य किसी भी भाषा के व्याकरण की प्रक्रिया नहीं है । पाणिनि की अष्टाध्यायी में ४००० सूत्र हैं और वे आठ अध्यायों में विभक्त हैं । प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त हैं । पाणिनि ने समस्त शब्दराशि का व्याकरण (व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः येन-वि+आ+कृ+ल्युट्) अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रमुख रूप से ६ साधनों का प्रयोग किया है, जो कि अत्यन्त व्यावहारिक हैं । ये छः साधन हैं— (१) प्रत्याहार (२) अनुबन्ध (३) गणपाठ (४) संज्ञाएँ (५) अनुवृत्ति और (६) असिद्ध ।

(१) प्रत्याहार– (संक्षिप्त कथन) - इनका आधार १४ माहेश्वर सूत्र हैं- (१) अ इ उ ण् (२) ऋ ऌ क् (३) ए ओ ङ् (४) ऐ औ च् (५)

ह य व र ट् (६) ल ण् (७) ञ म ङ ण न म् (८) झ भ ञ् (९) घ ढ ध ष् (१०) ज ब ग ड द श् (११) ख फ छ ठ थ च ट त व् (१२) क प य् (१३) श ष स र् (१४) ह ल् । अक्, अच्, हल् आदि कुल ४२ प्रत्याहार हैं । यथा-अक् के अन्तर्गत अ इ उ ण् नामक प्रथम माहेश्वर सूत्र के अ से लेकर द्वितीय माहेश्वर सूत्र ऋ ऌ क् के क् पर्यन्त वर्ण आते हैं, जिनमें से ण् और क् की इत्संज्ञा हो जाने के कारण उनका लोप होकर अक् प्रत्याहार के अन्तर्गत अ इ उ ऋ ऌ ५ वर्ण गृहीत होंगे । अच् के अन्तर्गत समस्त स्वर तथा हल् के अन्तर्गत समस्त व्यञ्जन ग्राह्य होंगे । सम्पूर्ण वर्णमाला का इससे अधिक संक्षिप्त रूप और क्या व्यवहार में लाया जा सकता है ?

(२) अनुबन्ध- प्रत्ययों के आदि अन्त में कुछ स्वर अथवा व्यञ्जन इसलिए जुड़े रहते हैं कि इन प्रत्ययों के होने पर गुण, बृद्धि, आगम, आदेश आदि कोई विशेष कार्य हो सकें । ऐसे वर्णों को ही अनुबन्ध कहते हैं । यथा—**'षिद्गौरादिभ्यश्च'** -स्त्री प्रत्यय के अन्तर्गत पठित इस सूत्र के अनुसार जिन प्रत्ययों में 'ष्' की इत् संज्ञा होती है, उन षित् प्रत्ययान्त शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में परिवर्तित करने के लिए उक्त सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय का विधान किया गया है । जैसे-नर्तकी शब्द नृत् धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन्' सूत्र से ष्वुन् प्रत्यय लगकर 'वु' को 'युवोरनाकौ' से अक आदेश होकर 'नर्तक' शब्द बनता है । इस 'ष्वुन्' प्रत्यय में ष् और न् इत्संज्ञक हैं : अत: ष् के इत् होने से यह षित् प्रत्ययान्त शब्द हुआ । अत: षित् प्रत्ययान्त इस 'नर्तक' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में षिद्गौरादिभ्यश्च सूत्र से ङीष् प्रत्यय लगाकर ही 'नर्तकी' शब्द बनेगा ।

(३) गणपाठ - महर्षि पाणिनि ने समान नियम-प्रत्यय विधान वाले अनेक शब्दों का कथन न करके उन सबका एक 'गण' बनाकर गण के आदि में आने वाले शब्द को लेकर सूत्र की रचना की है यथा— **'गर्गादिभ्यो यञ्'** अर्थात् गर्ग शब्द से आरम्भ होने वाले गण में यञ् प्रत्यय का विधान है और इस गर्गादिगण में लगभग १०८ शब्द हैं, जिन सभी का उल्लेख सूत्र में नहीं है, फिर भी उन सभी का बोध होता है । यह प्रक्रिया अत्यन्त संक्षिप्त तथा ज्ञान की दृष्टि से बहूपयोगी है ।

(४) संज्ञाएँ - व्याकरण के संक्षिप्तीकरण में पाणिनि की संज्ञाएँ बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं । यद्यपि इनमें से कुछ संज्ञाओं का निर्माण तो पूर्व में ही हो चुका था, किन्तु कुछ संज्ञाएँ स्वयं पाणिनि द्वारा निर्मित है यथा - गुण, बृद्धि, उपधा, लोप, संयोग, पद, प्रतिपदिक, प्रगृह्य, भ, टि, घु, घ, सत्, सवर्ण आदि ।

(५) अनुवृत्ति - सूत्रों के विस्तार को अधिकाधिक संक्षिप्त करने में पाँचवीं प्रणाली अनुवृत्ति का पाणिनि ने बखूबी प्रयोग किया है । पाणिनिकृत कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनका अलग तो कोई अर्थ नहीं है, किन्तु परवर्ती सूत्रमाला के प्रत्येक सूत्र से युक्त होने पर ही उनका अर्थग्रहण सम्भव होता है । ये सूत्र अधिकार सूत्र कहलाते हैं और इनकी अनुवृत्ति का क्षेत्र तब तक प्रभावी होता है, जब तक कि कोई दूसरा अधिकार सूत्र नहीं आ जाती । यथा तस्य विकारः, तस्यापत्यम् आदि ।

(६) असिद्ध - पाणिनी ने किसी विशेष नियम के सामने किसी नियम को हुआ न मानने के लिए इस प्रणाली का प्रयोग किया है । यथा **'पूर्वत्रासिद्धम्'** ।

इन ६ साधनों के अतिरिक्त भी कुछ विधियाँ हैं, जिनका पाणिनि ने यत्र-तत्र प्रयोग किया है यथा - योग विभाग, नियम सूत्र, अपवादसूत्रादि । इन संक्षिप्त विधियों के प्रयोग से जहाँ एक ओर व्याकरण का ज्ञान अधिक व्यावहारिक बन सका है, वहीं दूसरी ओर कुछ दुरूह भी हो गया है ।

यह तो नितान्त सत्य है कि संक्षिप्त सूत्र रूप में किसी बात को स्मरण करना अधिक सरल है । विस्तृत व्याख्या के विस्मृत होने की अधिक सम्भावना रहती है । इसके अतिरिक्त इनकी आवृत्ति भी कम समय व कम परिश्रम साध्य है । अत: यह अधिक व्यवहारिक है ।

कहा गया है कि -

'मूर्खोऽपि शोभते तावत्, यावत्किञ्चिन्न भाषते ।
भाषानिकषपाषाणे मूर्खो मूर्खो बुधो बुधः' ।।

अपि च -

'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।'

अतः वाणी की शुद्धता एवं साहित्य में गहरी पैठ व विद्वत्समाज में संस्कृताधीती (as a refined scholar) के रूप में अपनी प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत व्याकरण का ज्ञान वर्तमान समय में अत्यन्त आवश्यक व पूर्णतया प्रासङ्गिक है ।



वेदों में नारी जीवन

सृष्टि की आधार भूता आद्या-शक्ति स्वरूपिणी नारीजीवन के विविध रंग वेदों में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलते हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन स्त्री की समाज में स्थिति व उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से उभर कर हमारे सामने आता हैं। कहीं वह मंत्र रचयिता है, तो कहीं गोपालिका। कहीं वह कुशल योद्धा के रूप में दिखाई देती है, तो कहीं कुशल गृहिणी, साम्राज्ञी, गायिका अथवा नर्तकी के रूप में। वैदिक नारी के इन्हीं तमाम रूपों को मैंने प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभक्त कर देखने का प्रयास किया है - (१) दैवीय रूप (२) मानवीय रूप ।

१. दैवीय रूप - अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला (इड़ा), भारती, होत्रा, सिनीवाली, श्रद्धा, पृश्नि आदि भिन्न-भिन्न तत्त्वों भिन्न-भिन्न अधिष्ठात्री वेदोक्त देवियाँ हैं। यथा-शक्ति की देवी दुर्गा, विद्या की देवी सरस्वती तथा धन की देवी लक्ष्मी आदि। वेदों में ये देवियाँ कहीं माता तो कहीं देवकन्या अथवा कहीं ऋषिका के रूप में उल्लिखित हैं। सर्वाधिक वर्णित देवी अदिति का ऋग्वेद में ८० बार नाम आया है। यह कहीं ८ वसुओं की पुत्री, तो कहीं आदित्यों की भगिनी अथवा कहीं दक्ष-पुत्री[१] के रूप में वर्णित हुई हैं। अदिति का शाब्दिक अर्थ है - 'बन्धनमुक्त' अर्थात् 'स्वाधीन'। इसलिए अदिति को 'सर्वतातिम्[२]' (सर्वग्राहिणी) कहा गया है। अदिति के साथ दिति का वर्णन भी वेदों में देवी रूप में ही हुआ है, दैत्यों की माता के रूप में नहीं। यथा -

'हिरण्यरूपमुषसो व्युष्ववयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य ।
आरोहथो वरुणमित्रगर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ।।'

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १५९ और १६० -इन दो सूक्तों के दस मंत्रों में द्यावा और पृथिवी का वर्णन देवी के रूप में प्राप्त होता है, जहाँ उनको यज्ञवर्द्धिका, महती, यजमानमाता, उदारा, सदयामाता, पिता, सुजाता, निपुण अमृतदात्री, जीवनरक्षिणी, चैतन्यस्वरूपिणी, प्रज्ञायुक्ता, भगिनी, सहोदरा सुखदायिनी व फलदात्री कहा गया है। सीता (हल द्वारा चिह्नित

भूमि-रेखा-महीधर, शुक्ल- यजुर्वेद) की स्तुति भी देवी कहकर ही की गयी है[३] । उषा की देवी के रूप में स्तुतिपरक न जाने कितने सूक्त ऋग्वेद में भरे पड़े है[४], जबकि उषा का अर्थ प्रभात है । इसे वेदों में दीप्तिमती, सत्यभाषिणी व आकाशपुत्री के रूप में वर्णित किया गया है[५] । उषा समस्त प्राणियों की इच्छा और जीवन है[६] । यह नित्य-यौवना, शुभ्रवसना एवं धनाधीश्वरी है[७] । देवी रूप में उषा का ३०० बार उल्लेख प्राप्त होता है ।

इसके अतिरिक्त सूर्य की पुत्री[८] सूर्या, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी[९] (शची), अम्भृण ऋषि की पुत्री वाग्देवी आदि का भी वर्णन देवी रूप में प्राप्त होता है[१०] । वाक् को तो अन्न-जल-दात्री, हर्षकारिणी तथा प्रदीपिका[११] व सबसे बड़ी महिमा वाली बताया गया है । यह मित्र और वरुण को धारण करने वाली आकाशजननी, प्राणव्यापिनी, राज्याधीश्वरी, धनदात्री, ज्ञानवती, उपदेशिका कहा गया है । मानवजाति का पौरोहित्य करानेवाली उपदेशिका के रूप में धृतहस्ता इला (इड़ा) का हविर्लक्षण देवी के रूप में वर्णन प्राप्त होता है[१२] । देवी सरस्वती सत्य प्रेरिका, शिक्षिका, ज्ञानदात्री, पतितपावनी व अनेकानेक मंत्रों की आविष्कर्मी भी है[१३] ।

देवी भारती[१४], देवी होत्रा[१५], यम की माता व विवस्वान की पुत्री देवी सरण्यू अश्विनीकुमारों की भी माता है । सिनीवाली, राका, और गुंगु आदि देवियों का भी वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है । मरुतों की माता देवी पृश्नि सोमरस दुहने वाली[१६] हैं । अरण्यानी अथवा वन देवी का भी वर्णन प्राप्त होता है -

"न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ।।[१७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में अनेकानेक देवियों का वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त होता है, जिन्हें अपने मंगल के लिए व समय-समय पर यज्ञादि के लिए भी आहूत किया जाता है । इन्हीं में से कुछ प्रमुख देवियों का उल्लेख अभी तक किया गया । वस्तुतः कोई भी जड़ पदार्थ स्वयं कार्य करने में समर्थ नहीं होता है । उसका कोई न कोई चेतन अधिष्ठाता या अधिष्ठात्री अवश्य होना चाहिए। इसी विचार से अग्नि,

वायु, नदी आदि के सिवा अधिष्ठातृ रूप में भी चेतन अग्नि, वायु, नदी आदि को भी मान्यता वेदों में प्राप्त हुई है, जो कि देवी-देवता के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हुए हैं।

२. **मानवीय रूप** - दैवीय रूप के अनन्तर मानवीय रूप में भी नारी-जीवन की स्पष्ट झाँकी विविध वेदों में देखने को मिलती है। तत्कालीन नारी बहुत सम्मानित व ऋषियों-महर्षियों के द्वारा 'गृह' संज्ञा प्राप्त थी- **'गृहिणी गृहमुच्यते'**[१८] नारी रहित घर का अस्तित्व ही नहीं माना जाता था। ऋग्वेद और यजुर्वेद में स्त्री के लिए जो विशेषण दिये गये हैं, उनसे गुणों का ही बोध होता है। यथा-स्त्री अषाढ़ा (अजेय) सहमाना (जीतने वाली), सहस्रवीर्या (असंख्य पराक्रम वाली), असपत्ना (शत्रुरहित), सपत्नहनी (शत्रुओं को नष्ट करने वाली), जयन्ती (विजेता), अभिभूवरी (सबको तिरस्कृत करने वाली) है-

'अषाढासि सहमाना.......सहस्रवीर्यासि०[१९]' । यजु० १३/२६

'असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी[२०]'।

ऋग्वेद १०/१५९/५

ये गुण निस्सन्देह मानवीय हैं। तत्कालीन समाज कन्या का बड़ा सम्मान करता था। आर्य लोग पूषा देवता से कमनीय कन्या की याचना करते थे[२१]। कन्या को दुहिता कहा गया है। दौहित्र को अपना उत्तराधिकारी भी बनाया जाता था[२२]। कन्याओं का मुख्य कार्य गो-दोहन, गो-रक्षा, कपड़ा बुनना, कसीदा काढ़ना, घड़े भरना, तथा खेतों की रखवाली करना आदि था[२३]। कन्या की रक्षा पिता करते थे, तदुपरान्त भाई बहन की रक्षा करता था। आमरण अविवाहता पितृधन में हिस्सा पाती थी[२४]। वृद्धावस्था तक नारी अपने घर में प्रभुता करती थी[२५]।

स्त्री शिक्षा प्रचलित थी। स्त्रियाँ वेदाध्ययन करती थीं। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का आविष्कार स्त्रियों ने किया। यथा—

"इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।
अनापिरज्ञा असजत्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम्।।"

यह मंत्र ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ३९वें सूक्त का छठा मन्त्र है, जिसकी सृष्टि घोषा नाम की ब्रह्मवादिनी ने की है। इसके अतिरिक्त लोपामुद्रा[२६], अपाला[२७], लोमशा[२८], विश्वावारा[२९], तथा सूर्या[३०] का नाम भी शिक्षित, ब्रह्मवादिनी व मन्त्र तथा सूक्त आविष्कर्त्री के रूप में प्राप्त होता है। बृहस्पति पत्नी[३१] जुहू, इन्द्रमाता[३२], विवस्वान् की पुत्री यमी[३३], कामगोत्रीय[३४] श्रद्धा, दीर्घतमा ऋषि की माता[३५] ममता, अप्सरा[३६], उर्वशी, ऋषिका वाग्देवी[३७] तथा इन्द्राणी[३८] ने भी कुछ मन्त्रों की रचना की। स्त्रियाँ गानविद्या में भी निपुण होती थीं। वे कविताएँ भी करती थीं, नृत्य कला भी जानती थीं। एक मंत्र में उषा की उपमा नर्तकी से भी की गयी है।[३९]

इतना ही नहीं स्त्रियों के युद्ध क्षेत्र में योद्धा रूप का भी वर्णन प्राप्त होता है। अगस्त्य-पुरोहित खेल ऋषि की पत्नी विश्पला पति के साथ युद्ध में गयी थी, जहाँ उसकी जाँघ टूट गयी थी।[४०] मुद्गलानी के शत्रु से लकार १००० गायें जीती थीं।[४१] दासनमुचि ने तो स्त्री-सेना बनायी थी।[४२] वृत्रासुर की माता 'दनु' भी पुत्र के साथ युद्ध में गयी थी, जिसे इन्द्र ने मार डाला था।[४३]

उस समय स्त्रियाँ यज्ञ भी सम्पादित करती थीं और पुरुषों के अधिकांश कार्य करती थीं। वेद पढ़ना व उपदेश करना भी स्त्रियों का न केवल ऋग्वेद में ही अपि तु उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। सुलमा, मैत्रेयी, गार्गी, वाचक्नवी आदि ऐसी ही उपनिषत्कालीन स्त्रियाँ हैं। कन्याओं का भी उपनयन होता था और वे गायत्री भी पढ़ती थीं, किन्तु उन्हें पिता, चाचा या भाई ही पढ़ाते थे, अन्य नहीं।

स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र-आभूषण, माला, हार, वलय आदि धारण करती थीं। अलङ्कृत कन्या ही जामाता को दी जाती थी।[४४] स्वयंवर प्रथा[४५] थी। सौभाग्यवती व सुपुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया जाता था। दाम्पत्य जीवन की झलक देने वाले न जाने कितने मन्त्र वेदों में भरे पड़े हैं। राजकन्याएँ ऋषियों को व्याही जाती थीं। बहुविवाह भी प्रचलित था[४६]। सपत्नियों से नारी को दु:ख भी उठाना पड़ता था[४७]। सपत्नियों के नाश के लिए इन्द्राणी ने दो सूक्त भी बनाये थे[४८]।

विवाहोपरान्त नारियाँ पति के साथ यजमान बनकर यज्ञ करती थी[४९]। गर्भ-रक्षण बड़ी सावधानी से किया जाता था[५०]। यमज् (जुड़वाँ) का भी उल्लेख प्राप्त होता है[५१]। स्त्री से युद्ध करने वाले का धन ले लिया जाता था[५२]।

रात्रि-दिन की भाँति गुण-दोषमय संसार में विपथगामिनी व पति-विद्वेषणी नारियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उर्वशी ने एक स्थान पर कहा है कि स्त्रियों का प्रेम व मैत्री स्थायी नहीं होता[५३]। इन्द्र का कहना है कि 'स्त्रियों के मन पर शासन करना असम्भव है। स्त्री की बुद्धि छोटी होती है[५४]। लज्जाहीना का भी उल्लेख प्राप्त होता है[५५]। गुप्तप्रसविनी स्त्री की भी चर्चा है[५६]। हाँ पति के साथ चिता में जलने की कहीं पर भी चर्चा नहीं है। एक मन्त्र में—

'उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ[५७]॥'

मृत व्यक्ति की पत्नी को पुत्रादि, गृह का विचार कर लौट जाने को कहा गया है। पथभ्रष्टा नारियों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में वर्णित नारी का यह स्वरूप आज भी दृष्टिगोचर होता है। वैदिक नारी-जीवन अत्यधिक सम्मानजनक व गौरवपूर्ण है। अथर्ववेद तक आते-आते नारी का समाज में एक विशिष्ट स्थान परिलक्षित होता है।



सन्दर्भ-सूची

१. ऋग्वेद १०/७२/५, २. ऋग्वेद १०/१००/१।

३. ऋग्वेद ४/५७/६-७

४. ऋग्वेद १/४८-४९, २३,२४,३/६१, ४/३०, ५१,५२,

५/७९,८०,१०/१७२ आदि।

५. ऋग्वेद १/९२/१३-१४, ६. ऋग्वेद १/४८/१०।

७. ऋग्वेद १/१३/७, ८. ऋग्वेद १०/८५

९. ऋग्वेद १०/१४५, १०/१५९

१०. ऋग्वेद १०/१२५, ११. ऋग्वेद ८/९१/१०-११

१२. ऋग्वेद ७/१६/८ तथा १/३१/११

१३. ऋग्वेद १/३/१०-१२, १४. ऋग्वेद १०/७०/८

१५. ऋग्वेद १/२२/१०,

१६. ऋग्वेद ८/७/१० व १/२३/१०

१७. ऋग्वेद १०/१४६/५, १८. ऋग्वेद ३/५३/८

१९. यजु० १३/२६ २०. ऋग्वेद १०/१५९/५

२१. ऋग्वेद ९/६७/१०-११, २२. ऋग्वेद ३/३१/१-२

२३. ऋग्वेद २/३/६, २/३८/४ तथा १/१९१/१४

२४. ऋग्वेद २/१७/७, २५. ऋग्वेद १०/८५/२७

२६. ऋग्वेद १/१७९ २७. ऋग्वेद ८/९०

२८. ऋग्वेद १/१२६/६-७ २९. ऋग्वेद ५/२८

३०. ऋग्वेद १०/८५ ३१. ऋग्वेद १०/१०९

३२. ऋग्वेद १०/१५३

३३. ऋग्वेद १०/१५४

३४. ऋग्वेद १०/१५१

३५. ऋग्वेद १०/१०/२

३६. ऋग्वेद १०/१५ के ९ मंत्र

३७. ऋग्वेद १०/१२५

३८. ऋग्वेद १०/८६ के ९ मंत्र

३९. ऋग्वेद ३/९२/४

४०. ऋग्वेद ९/११२/१० तथा १/११८/८

४१. ऋग्वेद १०/१०२/७

४२. ऋग्वेद ५/३०/९

४३. ऋग्वेद १/३२/९

४४. ऋग्वेद १०/३९/१४ तथा ९/४६/२

४५. ऋग्वेद १/११६/१

४६. ऋग्वेद १०/८५/१५

४७. ऋग्वेद १०/३३/२

४८. ऋग्वेद १०/१४५ और १५९

४९. ऋग्वेद १/२२/८-९

५०. ऋग्वेद १०/१६२/८४

५१. ऋग्वेद १०/१३/२

५२. ऋग्वेद १०/२७/१०

५३. ऋग्वेद १०/५५/१५

५४. ऋग्वेद ८/४३/१७

५५. ऋग्वेद ७/८०/२

५६. ऋग्वेद २/२९/१

५७. ऋग्वेद १०/१८/८

दर्शनसुधा

कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा-परिकल्पना

कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा कल्पनातीत है । उन्हें न केवल कविता-कामिनी के हास-विलास की ही मनोरम पहचान है, अपितु भूगोल, इतिहास, राजनीति आदि समस्त लौकिक सामाजिक विज्ञानों के साथ-साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक जगत् से भी वे भलीभाँति सुपरिचित हैं । जहाँ एक ओर कालिदासीय साहित्य भावों के सप्तसिन्धु में सहृदय-चेतना को आनन्द निमग्न करता है, वहीं दूसरी ओर भारतीय काव्य-प्रतिभा का अक्षुण्ण स्रोत बनकर देश-काल की परिधि के पार विश्वमानव को अपनी 'दीप-शिखा' का प्रकाश बिखेरता है । तभी तो जर्मनी के सुप्रसिद्ध कवि गेटे के यह उद्‌गार बरबस फूट पड़ते हैं—

'वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्

यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-

रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ।[१]

महाकवि कालिदास आयुर्वेद, गान्धर्वविद्या (संगीतशास्त्र), ज्योतिष, व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा लोकव्यवहार के प्रकाण्ड पण्डित हैं । उनका वैदिक व पौराणिक ज्ञान भी असाधारण कोटि का है । तभी तो उनके पात्रों का आवागमन न केवल भूमण्डल पर, अपितु नक्षत्रों व ग्रहोपग्रहीय लोकों तक अबाध रूप से होता है । सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी कवि कालिदास की कल्पना का क्षेत्र पृथ्वी, आकाश तथा पाताल तक ही सीमित नहीं है, वे मानव मनोविज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दुओं के भी कुशल पारखी तथा वेद, पुराण, ज्योतिष, सांख्य, वेदान्त, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, पदार्थविज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषयों के आधिकारिक ज्ञाता हैं ।

काव्य-कसौटी पर निष्कलुष सिद्ध निखिलकविचक्रचूड़ामणि कविकुलगुरु महाकवि कालिदास की कृतियाँ विशद शास्त्रीय ज्ञान से ओत-प्रोत हैं । महाकवि की अप्रतिम प्रतिभा मानव जीवन के सभी व्यापक क्षेत्रों का संस्पर्श करती हुई महान् भारत राष्ट्र की सर्वाङ्गमयी बाँकी झाँकी का दिग्दर्शन कराती है । उनकी उत्कृष्ट कृतियों में आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक आदि विषयक अगाध ज्ञान-भण्डार समाहित है । यही कारण है कि कवि के कलात्मक एवं विचारात्मक पक्षों पर भारत में ही नहीं, अपितु विश्व में अपरिमित अनुसन्धान कार्य सम्पन्न हुआ और आज भी अनवरत गतिमान है ।

कवि अन्तः एवं बाह्य जगत् का सूक्ष्म द्रष्टा होने के साथ-साथ कल्पना जगत् का कुशल स्रष्टा भी होता है । अन्तः-बाह्य जागतिक दृष्ट विषयों में किसे अपनी कल्पना का आधार बनाकर किस रूप में वह अभिव्यक्त करेगा, यह तो आदि सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा जी को भी विदित नहीं होता है । सर्वदृष्ट वस्तुओं व विषयों में भी वह अपनी असाधारण पारखी दृष्टि से कुछ असामान्य देख लेता है और उसकी यह असामान्य प्रत्यभिज्ञा ही उसे कविकुल में प्रविष्ट कराती है । प्रत्यभिज्ञा से यहाँ तात्पर्य ज्ञान के उस प्रकार से है, जो स्मृति और अनुभवरूप उभयात्मक है । प्रत्यभिज्ञा का सीधा सम्बन्ध पहचान से है, जो तभी सम्भव है, जब वस्तु का पूर्वकालिक ज्ञान स्मृत हो और वर्तमान में वह प्रत्यक्षानुभूत हो। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा ज्ञात विषयक ज्ञान है, किन्तु यह स्मृति से व्यतिरिक्त है। कारण, स्मृति संस्कारजन्य ज्ञान है, जब कि प्रत्यभिज्ञा पूर्व देश, पूर्वकाल और वर्तमान देश, वर्तमान कालविषयक उभयात्मक प्रतीति है । यह उभयविध प्रतीति ही वास्तविक (यथार्थ) पहचान का आधार है, जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं ।

महाकवि की कृतियों में यह प्रत्यभिज्ञान इतना व्यापक, गहन, भ्रमशून्य एवं हृदयस्पर्शी है कि सर्वसाधारण को भी इसकी प्रत्यभिज्ञा सरलता से हो जाती है । सम्भवतः कवि का यह प्रत्यभिज्ञान जीवन में परिभ्रमणकारी देशाटन प्रिय तीर्थयात्री के रूप में, प्रवासी के रूप में,

राजनैतिक परिस्थितयों में राजदूत के रूप में अथवा रामायण, महाभारत तथा पुराणादि प्राचीन साहित्यिक सामग्री के अध्ययन से अर्जित रहा है: किन्तु वह है सर्वथा गम्भीर, बृहद् एवं मौलिक ।

कालिदास ज्ञान के इस प्रकार से भलीभाँति सुपरिचित एवं प्रभावित भी हैं । तभी तो अपनी विश्वविख्यात अमरकृति का अभिधान 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के रूप में करते हैं । स्पष्ट है कि उनका अभिज्ञान 'अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्' अभि+ज्ञा+ल्युट् (अन्) - करणाधिकरणयोश्च से करण अर्थ में ल्युट् प्रयुक्त है। अर्थात् अभिज्ञान, जिसके द्वारा पहचाना जाता है - अगूँठी । इस प्रकार अभिज्ञान स्मृतं शाकुन्तलम् अभिज्ञानशाकुन्तलम् है । इस ज्ञान में भ्रम अथवा संदेह का कोई स्थान नहीं है । सर्वथा प्रामाणिक है यह ज्ञान । स्मृति तथा अनुभव-ज्ञान के ये दोनों ही प्रकार दोषयुक्त, खण्डित अथवा अपूर्ण हो सकते हैं, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में इनका कोई स्थान नहीं है । तभी तो दुष्यन्त की यह उक्ति है कि—

यदहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।[२]

वस्तुत: प्रत्यभिज्ञान सन्देह का पूर्ण निराकरण है, जिसे कालिदास ने राजा के द्वारा विदूषक को अगूँठी च्युत होकर प्रवाह में गिर जाने की घटना बतलाने पर राजर्षि के विवाह-सम्बन्धी सन्देह होने के हेतु रूप में कथित सानुमती की उक्ति द्वारा स्पष्ट किया है—

अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते ।[३]

अन्यथा तो अनभिज्ञता के ही दर्शन होते हैं । यथा-विदूषक का पूर्व देश, पूर्वकाल विषयक प्रत्यक्ष ज्ञानाभाव में शकुन्तला का न पहचाना जाना । तभी तो सानुमती विदूषक के द्वारा तीन सम्मानित स्त्रियों के मध्य चित्रित शुकन्तला को न पहचानने पर कहती है कि—

अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः ।[४]

विदूषक के पास प्रामाणिक पहचान का कोई आधार नहीं है । चित्रलिखित शुकन्तला भी यदि राजर्षि नामांकित अगूँठी धारण किये

होती, तो विदूषक को स्पष्ट प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति हो जाती । यथा— हनुमान जी द्वारा सीता के हृदय के समान सीता जी द्वारा बदले में दिये गये अभिज्ञान के रत्न को भगवान् राम को दिखलाने पर उन्हें प्रतीत हुई—

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।

हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ।।[५]

यह प्रत्यभिज्ञा (पहचान) तत्तावगाहन देश-काल में जितनी विशुद्ध व स्पष्ट होगी, इदन्तावगाहिनी प्रत्यभिज्ञा उतनी सरल व सुगम होगी । तद्देश व तत्कालात्मक ज्ञान किसी भी प्रकार के दोष से युक्त होने पर एतद्काल प्रत्यभिज्ञा अवश्य प्रभावित होगी ।

कालिदास की कृतियों में प्रत्यभिज्ञा के कुछ ऐसे ही फल (परिणाम) स्पष्ट हुए हैं । दुष्यन्त शकुन्तला का प्रत्यक्ष होने पर भी पहचान नहीं पाता है । कारण, दुष्यन्त ने तो अपनी प्रत्यभिज्ञा अगूँठी के साथ संयुक्त कर रखी थी, जो कि मात्र प्रत्यभिज्ञा का साधन थी, साध्य नहीं । साध्य तो स्वयं शकुन्तला थी, किन्तु साध्य के स्थान पर साधन को ही साध्य मानकर और उसी को अन्तिम मानदण्ड निर्धारित करने के कारण ही दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान हुआ । प्राय: दैनिक जीवन में भी सर्वत्र यही दृष्टिगोचर होता है कि यदि स्थायी व स्वरूपत: किसी वस्तु की पहचान नहीं हुई, तो प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं हो पाता है । हम किसी का घर इसलिए नहीं पहचान पाते हैं, क्योंकि हमने पहचान घर नहीं की थी । हमने पहचान का आधार कोई बोर्ड, बैनर अथवा पार्क रखा था, जिसके हट जाने से घर का प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं हो सका । घर का भूगोल भी स्मृत नहीं रहा और फलस्वरूप दिशा भ्रम होने से विपरीत दिशा में चल पड़े। यह स्थिति प्रत्यभिज्ञान की नहीं, अपितु प्रत्यभिज्ञाभास की होती है ।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही कहा था कि कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा कल्पनातीत है । भौगोलिक स्थलों का जैसा प्रत्यभिज्ञान हमें कालिदास की कृतियों में देखने को मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ सा है । उनका

भौगोलिक ज्ञान-कोष गहन, व्यापक एवं भ्रमशून्य है । जल, थल, नभ सभी का उनका प्रत्यभिज्ञान अद्भुत है । स्थल से सम्बन्धित पर्वत, उपत्यका, अधित्यका, पठार, निर्झर, प्रपात, नदी, नद, संगम तथा सरोवर आदि का महाकवि को पूर्ण ज्ञान है । कालिदास यह भी जानते हैं कि पर्वतों की भूसन्तुलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है—

'आरसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा .... ।[६]

पर्वत नदियों के बड़े उद्गम स्रोत होते हैं[७] । वायु के वेग से विचलित न होने के कारण ही उन्हें अचल कहा जाता है ।[८] नदियों के प्रवाह, प्रकृति[९], उत्पत्ति[१०], स्वरूप[११] आदि का व्यापक ज्ञान उनकी कृतियों में यत्र-तत्र प्राप्त होता है । उनके अनुसार एक ओर बढ़ी हुई नदी की धारा भूमि को कटाव से उजाड़ती है[१२], तो दूसरी ओर उत्तर कोसल में प्रवाहित सरयू की धारा धाय के समान पोषक भी है—

'यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोशलानाम् ।।[१३]

इतना ही नहीं कवि प्रादेशिक भौमिक रचना से भी परिचित है । मध्यप्रदेश की विन्ध्यपर्वत से सम्बन्धित भूमि लाल चट्टानों (गैरिक धातु) से युक्त है ।[१४] सिन्धु राज्य में नमक के पहाड़ों से नमकीन शिलाएँ प्राप्त होती हैं ।[१५] भूगर्भ के विविध खनिज पदार्थ तथा बहुमूल्य पत्थरों का ज्ञान भी कवि का उत्कृष्ट कोटि का है । यथा—

'अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयम् ।[१६]

भौगर्भिक परिवर्तनकारी शक्तियों[१७], स्थलीय प्राकृतिक वनस्पतियों[१८], पर्वतीय वनों[१९], समुद्रतटीय वनों[२०], मैदानी वनों, मरुस्थलीय वनों[२१] तथा उष्ण जलवायु वाले वनों[२२], आदि के साथ-साथ जीव-जन्तुओं में हिंसक[२३] जीवों, पालतू पशुओं[२४], पालतू पक्षियों[२५] आदि के स्वरूप, स्वभाव एवं गुण-दोषों का भी कवि कुशल चितेरा होने के साथ-साथ उनकी प्रत्यभिज्ञा भी उसे भलीभाँति है और उसकी अभिव्यक्ति भी उत्कृष्ट कोटि की है । जलीय वनस्पतियों, जीव-जन्तुओं, जल-सम्पत्ति, जल के कार्य, जल की गतियों (लहरों, ज्वार-

भाटा आदि) तथा जल से सम्बन्धित स्थलीय रूपों[२६] (समुद्री द्वीप) आदि का भी कालिदासीय रचनाओं मे विशद वर्णन प्राप्त होता है। वायुमण्डल[२७] से सम्बन्धित सुरपथ, घनपथ तथा खगपथ आदि के प्रत्यभिज्ञान के साथ ही साथ सात वायु स्कन्धों का भी उन्हें ज्ञान है, तभी तो वे छठे वायु स्कन्ध परिवह के पवन को भी पहचान लेते हैं—

त्रिस्त्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां

ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।

तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं

वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्।।[२८]

जलवायु, ऋतुपरिवर्तन, मेघों के प्रकार, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण तथा अन्य ग्रह-नक्षत्रों, आकाशगंगा, तारामण्डल तथा लोक-परलोक आदि की भी कवि की प्रत्यभिज्ञा आश्चर्य से भर देने वाली है। मानव भूगोल से सम्बन्धित भोजन, वस्त्र, आवास, यातायात, आर्थिक भूगोल (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार, वस्त्र उद्योग, खनिज धातु उद्योग) आदि का भी उनकी कृतियाँ विस्तृत परिचय कराती हैं। राजनैतिक ज्ञान भी कवि का अद्भुत है। अर्थ केन्द्र, शासन केन्द्र, संस्कृति के महाकेन्द्र तथा ऋषियों-मुनियों के आश्रम[२९] आदि का भी कवि को भरपूर ज्ञान है। पौराणिक प्रत्यभिज्ञान तो कवि का अनुपम है—

'प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं

भर्त्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम्।

यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं

द्वन्द्वं दक्षमरीचिसम्भवमिदं तत्स्त्रष्टुरेकान्तरम्।।[३०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा की परिकल्पना करना भी सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त दुष्कर है और उससे अधिक दुष्कर है उसका शब्दों में बाँधना।



सन्दर्भ-सूची

१. गेटे के छन्द का महामहोपाध्याय मिराशी कृत संस्कृत पद्यानुवाद, १९७४ में

२. अभि०शा० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान इलाहाबाद से प्रकाशित अंक ७ पृ० ४२८

३. वही, अंक ६, पृ० ३५०

४. वही, अंक ६, पृ० ३५३

५. रघु० १२/६४

६. कुमार० ६/६८ तथा ७/६८ भी द्रष्टव्य

७. कुमार० ६/६९

८. रघु० ८/९०

९. कुमार० २/६,५/८५, रघु० ६/५२, ऋतु० २/७, विक्रमो० ३/८, मालवि० ५/९ आदि

१०. रघु० ९/१७

११. विक्रमो० २/११ के पूर्व विदूषक, कुमार० ४/४४ तथा रघु० १०/६९

१२. रघु० ११/५८

१३. रघु० १३/६२

१४. रघु० ५/७२, १६/३०

१५. रघु० ५/७५ ।

१६. विक्रमो० ४/६३ तथा २/५९, २/१५, मालवि० ५/१८, २/९, कुमार० ८/८१, १/२४ रघु० १२/८० तथा उत्तरमेघ० १३,१५ आदि भी दृष्टव्य

१७. रघु० १५/२४, कुमार० १५/२३

१८. पूर्वमेघ० ४२ उ०मेघ०१५, अभि०शा० १/१८, २/१ से पूर्व विदूषक २/८, ४/२, रघु० १८/१५, विक्रमो० २/४ आदि भी द्रष्टव्य ।

१९. रघु० १/३८ तथा कुमार० का तृतीय सर्ग दृष्टव्य

२०. रघु० ४/३४, ४/५६, कुमार० १०/४९ आदि द्रष्टव्य

२१. अभि०शा० २/८ के बाद विदूषक

२२. कुमार० १२/४१, ११/९२ तथा पू०मेघ० भी दृष्टव्य

२३. रघु० २/२९-३०, ९/५९-६०, ९/६३-६४ १२/३७, १६/१५ ऋतु० ०१/१४, १७,२७,१२५ तथा अभि०शा० २/५ के बाद विदषूक तथा २/६ आदि द्रष्टव्य

२४. रघु०, कुमार० तथा मालविका० के अनेक स्थल

२५,२६,२७ समस्त कृतियों में प्रचुर वर्णन प्राप्त

२८. अभि०शा० ७/६

२९. रघु० प्रथम (वसिष्ठाश्रम) व पंचम (वरतन्तु आश्रम) द्रष्टव्य

३०. अभि० शा० ७/२७ ।

वेदान्त दर्शन और पाश्चात्य दार्शनिक समीक्षक डॉ० पाल डायसन

पाश्चात्य दार्शनिक डॉ० पाल डायसन संस्कृत भाषा और वेदान्त दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् थे । जर्मन नागरिक डॉ० पाल डालसन (१८४५-१९१९) कील विश्वविद्यालय जर्मनी में ही दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे । उनके जर्मन ग्रन्थ 'डास सिस्टम डेस वेदान्त' का अंग्रेजी अनुवाद 'दी सिस्टम ऑफ दी वेदान्त' सर चार्ल्स जान्स्टन ने किया था, ज़ो १९१२ में शिकाग़ो से प्रकाशित हुआ । इसी अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी अनुवाद 'वेदान्त-दर्शन', संगमलाल पाण्डेय, प्राध्यापक-दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय नें किया, जिसका प्रकाशन १९७७ में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ द्वारा हुआ ।

पश्चिम में डॉ० पाल डायसन वेदान्त दर्शन के आधिकारिक ज्ञाता के रूप में ख्याति-लब्ध हैं । मनसा-वाचा-कर्मणा इस वेदान्ती ने वेदान्त दर्शन को विश्व दर्शन में भारतीय दर्शन की ही भाँति स्थान दिलाने का भरपूर प्रयास किया और दर्शन के मूल तत्त्व (एलीमेण्ट्स ऑफ मेटाफिजिक्स) नामक एक ग्रन्थ तीन भागों में लिखा, जिसके प्रथम भाग का कलेवर उपनिषद् (वेदान्त) दर्शन ही है। उनके इस बृहत्तर कार्यजन्य वेदान्त प्रेम को देखते हुए भारतीय पण्डितों ने डॉ० पाल डायसन का भारत भ्रमण के लिए भारत आने पर नये नाम से 'देवसेन' कहकर सम्मान किया । सभी योरोपीय भाषाओं में 'वेदान्त-दर्शन' का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ डॉ० पाल डायसन का 'डास सिस्टम डेस वेदान्त' माना जाता है । भारत सरकार ने भी अपनी मानक ग्रन्थ-योजना के तहत प्रस्तुत पुस्तक को उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा मुद्रित करवाया ।

डॉ० पाल डायसन नें अपने 'वेदान्त-दर्शन' का प्रणयन बादरायण व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' तथा शंकराचार्य के 'शारीरक भाष्य' के आधार पर ही किया है । उनके स्वतन्त्र चिन्तन के विषय भी कहीं न

कहीं भारतीय दर्शन से ही प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के तारक उपदेश प्राप्त करने का कौन अधिकारी है ? कौंन नहीं— इसका निष्कर्ष है कि उपनयन (यज्ञोपवीत पहनाकर आचार्य द्वारा दी गयी दीक्षा) संस्कार के माध्यम से जिनका दुबारा जन्म (द्विज) हुआ है, वे सभी इस ज्ञान के अधिकारी हैं। इस प्रकार सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इस शर्त को पूरा करने पर और देवगण तथा दिवंगत ऋषिगण वेदान्त के अधिकारी हैं और विपरीततः शूद्र (जो चौथे अनार्य वर्ण के हैं) इससे बहिष्कृत हैं। प्रथम दृष्टि में यह आश्चर्यजनक लगता है कि शूद्र मुक्ति के मार्ग से बहिष्कृत है। यह सच है कि किसी विशेष वर्ण में पैदा होना एक संयोग की बात नहीं है, किन्तु पूर्वजन्म के चरित्र और कर्म का अनिवार्य परिणाम है। डॉ० पाल के अनुसार यह वेदान्त के दार्शनिकों का राष्ट्रीय पूर्वाग्रह है, जो वे अपने समस्त ज्ञान को वेद से निकला हुआ दिखाते हैं और इसके लिए एक बड़ी पेचीदी प्रक्रिया का प्रयोग करते हैं। इसी पूर्वाग्रह के कारण शूद्रों के अधिकार को असंभव बना देते हैं, क्योंकि वेदान्त के अध्ययन की एक पूर्वापेक्षा है। वेद का अध्ययन और उसके विषयों का ज्ञान जिसके लिए उपनयन (आचार्य द्वारा दीक्षा) आवश्यक है और शूद्र का उपनयन नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मशास्त्र (स्मृति) शूद्र की उपस्थिति तक में वेदों को जोर से पढ़ने का निषेध करता है। डॉ० पाल इस सम्बन्ध मे वेद के कुछ उन प्रसंगों का—जिनमें ज्ञान किसी शूद्र या संदिग्ध वर्ण वाले को प्रत्यक्षतः दिया गया है—का भी उल्लेख करते हैं। पहला प्रसंग संवर्ग विद्या जिसको रैक्व जानश्रुति[1] को बताता है। हालांकि वह उसे पहले शूद्र[2] कहता है और दूसरा उदाहरण बालक सत्यकाम (फिलालेथनीज-मैक्समूलर) का जो बालोचित स्वभाव से अपने आचार्य के द्वारा कुल पूछे जाने पर अपनी माता के विषय में सब कुछ सच-सच कह देता है। इस पर आचार्य यह कहकर कि केवल ब्राह्मण ही ऐसा सत्यनिष्ठ[3] हो सकता है—**'सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते'**—ज्ञान का उपदेश देता है। डॉ० पाल का कहना है कि हम इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीनकाल में चित्त की उदारता अधिक थी और जहाँ हृदय और

मन से ब्राह्मण होने का प्रश्न था, वहाँ केवल जन्मना ब्राह्मण मानने की प्रवृत्ति हो चली । अन्त में वे यह भी कहते हैं कि जो कुछ भी हो, हमारे आचार्य मानते हैं कि जब तक शूद्र संसारचक्र में उच्चतर वर्ण को प्राप्त नहीं करता है[४], तब तक वह मुक्ति के उपदेश से सर्वथा बहिष्कृत है । प्रतिकूलतः अधिकार की सीमा जो निम्नस्तर पर अनुदारतापूर्वक संकीर्ण है (उच्चस्तर पर इतनी व्यापक बना दी जाती है कि तीन आर्यवर्ण के सभी मनुष्य ही नहीं प्रत्युत देवता और दिवंगत ऋषि भी मुक्तिदायिनी ब्रह्मविद्या के अधिकारी मान लिये जाते हैं[५] ।

डॉ०पाल के अनुसार वेदान्त का प्रयोजन—नैसर्गिक अध्यास का विनाश है । प्रकृति की प्रत्यक्षमूलक व्याख्या वस्तुओं की सत्ता का अन्तिम समाधान करने में असमर्थ है—यह विचार केवल भारतवासियों में ही नहीं पाया जाता है, वरन् अनेक रूपों में पश्चिम के दर्शन में भी मिलता है और अधिक निकट से परीक्षा करने पर पता चलता है कि यह विचार समस्त तत्त्वदर्शन का मूल है यहाँ तक कि इसके बिना किसी तत्त्वदर्शन का उद्भव ही नहीं हो सकता। डॉ० पाल ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह माना है कि ज्ञान अपनी पूर्णता तक तीन बार पहुँचा और हर बार देश, काल तथा व्यक्ति की परिस्थितियों के अनुसार एक भिन्न मार्ग से प्रकट हुआ । एक बार भारतीयों में जिसका वर्णन वे करने जा रहे हैं, दुबारा यूनानी दर्शन में पारमेनाइडीज के माध्यम से और तीसरी बार आधुनिक दर्शन में कान्ट के माध्यम से[६] ।

शंकराचार्य के शारीरक भाष्य के उपोद्घात का विश्लेषण करते हुए डॉ० पाल का कहना है कि आत्मा ज्ञान का विषय है, चाहे हम उसे यथार्थतः समझें या न समझें । अविद्या जन्मजात (नैसर्गिक) है, इसका कारण मिथ्या प्रत्यक्ष (मिथ्याज्ञान निमित्त) है, इसका अस्तित्व मिथ्या प्रत्यय (मिथ्याप्रत्ययरूप) है । शङ्कर के अनुसार भी समस्त मानव ज्ञान, वेदान्त के तत्त्वज्ञान को छोड़कर, इस नैसर्गिक अविद्या की भूमि पर खड़ा है । इस प्रकार केवल लौकिक ज्ञान अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त लोक-व्यवहार का ज्ञान ही अविद्यामय नहीं है, प्रत्युत विधि-निषेध करने

वाला और परलोक में दण्ड-पुरस्कार देने वाला समस्त वैदिक कर्मशास्त्र भी है। डॉ० पाल के अनुसार समस्त प्रत्यक्षमूलक ज्ञान की अपर्याप्तता का दूसरा हेतु[७] यह भी है कि वह पशुओं के ज्ञान से केवल मात्रा में उच्चतर विकास (व्युत्पत्ति) होने के कारण भिन्न है, अन्यथा वह जात्या पशुओं के ज्ञान के समान है। इसी की भाँति पूर्णतया वह अहंकार के अधीन है, जो इच्छित वस्तु को लेने की और अवांछित वस्तु को दूर करने की प्रेरणा देता है। अहंकार का यह प्रयोजन लौकिक कर्म, जिसके फल इसी जीवन में मिलते हैं और वैदिक कर्म, जिसका फल परलोक में मिलता है, दोनों में अध्यास की अपेक्षा करता है। इस प्रकार यह नैसर्गिक अध्यास अनादि और अनन्त है, मिथ्या प्रत्यय रूप है, (आत्मा में) कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्तक है और सभी लोगों का स्वाभाविक दृष्टिकोण है। इस अनर्थ के हेतुभूत अध्यास की समूल निवृत्ति के लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही सभी वेदान्त ग्रन्थों का आरम्भ होता है। यह वेदान्त इच्छा के सम्पूर्ण क्षेत्र के परे है, बाह्य जीवन में अवस्था के समस्त भेदों की उपेक्षा करता है और अपने को इस ज्ञान तक उठा देता है कि आत्मा वस्तुतः संसारचक्र में लेशमात्र भी पड़ती ही नहीं है।

ए०बी०कीथ के अनुसार शांकर वेदान्त का मर्म पर-विद्या और अपर-विद्या के विचार पर निहित है। इस विभेद के सहारे ही जहाँ वे नीचे के धरातल पर हिन्दू धर्म की समस्त मान्यताओं को स्वीकार कर सकते हैं, वहीं ऊँचे धरातल पर वे किसी में भी सच्ची वास्तविकता को नहीं मानते हैं[८]। कुछ इसी प्रकार डॉ० पाल डायसन के अनुसार वेदान्त-दर्शन के दो रूप हैं। एक धार्मिक, अपराविद्या का और दूसरा दार्शनिक, पराविद्या का। यह दोनों ही रूप एक दूसरे के समानान्तर वेदान्त सम्मत प्रमुख पाँचों ही क्षेत्रों (ब्रह्मविज्ञान, सृष्टिविज्ञान, मनोविज्ञान, पुनर्जन्मवाद तथा मोक्षवाद) में विद्यमान है। सम्पूर्ण ग्रन्थ (ब्रह्मसूत्र) का मूल विन्यास अपराविद्या का वर्णन है, जो हर क्षेत्र में पराविद्या को अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान और उपासना को प्राप्त करने के साधन का उपदेश है। अपराविद्या व्यवहार-वेश में तत्त्वदर्शन है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार यह अविद्या (जो हममें नैसर्गिक है) के दृष्टिकोण से विचारित विद्या है। यही कारण है कि देवयान मार्ग से चलकर उर्ध्वगति से

ब्रह्मलोक में पहुँचने वाले पुण्यभाग जीव को भी जब पराविद्या का ज्ञान दिया जाता है, तब ही वह मुक्त होता है। तब तक यद्यपि वह ब्रह्मलोक में रहता है और ऐश्वर्य का साक्षीदार होता है, फिर भी उसका अन्धकार दूर नहीं होता है, उसका अज्ञान फिर भी नष्ट नहीं होता है। कारण, उसके पास केवल अपराविद्या है । इसके विरूद्ध स्वभाव वाला शुद्ध दर्शन पराविद्या या सम्यग्दर्शन नहीं है[९] ।

ब्रह्मविद्या में ब्रह्म नेति नेति है । पूर्णत: निर्गुण, निर्विशेष और निरुपाधिक है और इसलिए वह अनिर्वचनीय या अचिन्त्य है । सभी उपाधियों से रहित यह ब्रह्म ही एक मात्र सत् है, उससे भिन्न कुछ नहीं है । 'तत् त्वम् असि' का उपदेश समझते ही प्रत्येक मनुष्य की आत्मा ब्रह्म का अंश या ब्रह्म से आविर्भूत नहीं है, किन्तु पूर्णतया ब्रह्म ही है। ऐसा जानकर जीव का फिर प्रयाण नहीं होता है और न मोक्ष होता है। वह तो पहले से ही मुक्त है । देहपात के अनन्तर वह अन्य जीवों की भाँति उत्क्रमण नहीं करता, किन्तु जहाँ है वहीं रहता है । उसी रूप में जो नित्य था—समस्त वस्तुओं की प्रकृति, मूलत: नित्य, शुद्ध, मुक्त ब्रह्म । यही सम्यग्दर्शन या शुद्ध अर्थ में विद्या है । इस ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में अपराविद्या और पराविद्या क्रमश: निम्नतर, गुणवान् **(अपरा, सगुणा)** और उच्चतर गुणरहित **(परा, निर्गुणा)** है—

'अपरम् सगुणम्, सविशेषम् तथा कार्यम्, अमुख्यम् ब्रह्म और परम् निर्गुणम्, निर्विशेषम् तथा अविकृतम्, मुख्यम्, शुद्धम् ब्रह्म[१०] ।

पहला उपासना का विषय है, दूसरा ज्ञान का । पहली विद्या के प्रसंग में कर्तव्यपालन आदिष्ट है, किन्तु दूसरे में नहीं । पहली विद्या के विभिन्न फल हैं और दूसरी का एकमात्र फल मुक्ति है ।

सृष्टिविज्ञान के क्षेत्र में इसी पराविद्या और अपराविद्या के भेद का प्रश्न नहीं रह जाता है । यहाँ भेद दो दृष्टिकोणों से है, जिसे व्यवहार का दृष्टिकोण (व्यवहार-अवस्था) और परमसत्ता का दृष्टिकोण (परमार्थ-अवस्था) कहा जाता है। पहला दृष्टिकोण अविद्या का है और दूसरा विद्या का । पहले के अनुसार अनन्त शक्तियों से समन्वित ब्रह्म से जगत् की सृष्टि होती है और अनेक जीवों का अस्तित्व है, जिनके कर्म और

भोग के लिए यह जगत् है । दूसरे दृष्टिकोण से अनेकता के साथ ही सृष्टि और संसार की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और इन दोनों का स्थान यह सिद्धान्त ले लेता है कि प्रकृति तथा जीव का ब्रह्म से अभेद है[११] ।

डॉ० पाल के अनुसार सृष्टि विज्ञान और मनोविज्ञान की परमार्थ अवस्था और ब्रह्मविज्ञान तथा परलोक विज्ञान की पराविद्या एक ही निकाय की हैं— ऐसा निष्कर्ष स्वयं शंकर की उस अकेले अनुच्छेद की व्याख्या से सिद्ध होता है, जिसमें उन्होंने पराविद्या का व्यवस्थित वर्णन किया है । शंकर को इस तथ्य की स्पष्ट जानकारी नहीं थी कि सृष्टि और संसार के सिद्धान्तों की व्यवहार अवस्था का सम्बन्ध सगुण अर्थात् अपने शब्दों में कहें, तो व्यक्तिगत ईश्वर और मृत्यु के अनन्तर उसके पास जाने वाले जीव की अपराविद्या से है, कि दोनों मिलकर एक अपरातत्वविद्या का निकाय देती हैं, जिसमें 'परे' का वर्णन नैसर्गिक यथार्थवाद (अविद्या) के दृष्टिकोण से किया जाता है, क्योंकि व्यवहार-अवस्था के बिना अपराविद्या नहीं रह सकती और न अपराविद्या के बिना व्यवहार अवस्था ही हो सकती है । विभिन्न अपराविद्याओं के आवश्यक पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान शंकर को नहीं था - यह उनके वर्णनों से ही प्राय: स्पष्ट हो जाता है। किन्तु, पराविद्या के प्रसंग में उसके विपरीत, उनके ग्रन्थ के अन्त में एक अनुच्छेद है, जिससे ज्ञात होता है कि इसके विभिन्न सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध की उनकी जानकारी उतनी स्पष्ट थी, जितना संभव था[१२] ।

विश्व दो तत्त्वों से बना है, उनमें से एक को विश्व-विकास के नाटक का रंगमञ्च कहा जा सकता है और दूसरे को उस पर प्रकट होने वाले अभिनेता। पहला तत्व अजैव प्रकृति है, जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी से बनी है । दूसरा तत्त्व जीव प्रकृति है, जिसके अन्दर वे जीव हैं, जो भूतों में प्रविष्ट हैं और वनस्पति, पशु, मनुष्य तथा देव रूप से विचरते हैं । दोनों तत्त्वों का अन्तर्भाव अन्तत: ब्रह्म में हो सकता है, जो एक और अद्वितीय है और अपराविद्या के अनुसार प्रत्येक सर्गकाल में भूतों की नयी सृष्टि करता है और उनमें जीवात्मा से अर्थात्

जीव से प्रवेश करता है, किन्तु दोनों भूत तथा जीव अभेद सिद्धान्तरूपी परमार्थ या पराविद्या के दृष्टिकोण से, केवल एक और अविभक्त स्वयं ब्रह्म है, क्योंकि नामरूप में फैले हुए भूतों के प्रपंच को परमार्थतः सत् नहीं कहा जा सकता है और वह कर्त्ता के कर्मफल के रूप में जीव पर 'आरूढ़' होता है । जीवात्मा के सिद्धान्त की अनिवार्य अपेक्षा वह प्रमाण है, जो सिद्ध करता है कि जीव का अस्तित्व है व मनुष्य में एक तत्त्व है, जो देह के व्यतिरिक्त है और देह पात से विनष्ट नहीं होता है। देह से व्यतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व है, यह निर्विवाद है[१३] ।

संसरणधर्मा संसार अथवा जीव के संसरण के सम्बन्ध में डॉ० पाल डायसन का कहना[१४] है कि मृत्यु के बाद जीव की दशा सामान्य रूप से तीन अवस्थाओं में लक्षित होती है—(१) प्राचीनतम मत (ऋग्वेद के मंत्रों) में जीव के संसरण का कोई ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। अच्छे मनुष्यों के जीव मृत्यु के बाद यम के द्युलोक में जाते हैं और वहाँ पितरों के साथ आनन्दमय जीवन बिताते हैं—

'अथा पितृन्त्सुविदत्राँ उपेहि, यमेन ये सधमादं मदन्ति'[१५] ।

दुष्टों के लिए वहाँ का द्वार बन्द है और वे पाताल के अन्धकार में जाते है—**'यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः**[१६] **।'** तथा

'नुदस्व काम प्रणुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः

'तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्'[१७] ।

दोनों से फिर नये पार्थिव जन्म में वापिस आने की बात का उल्लेख नहीं है ।

(२) उपनिषदों के संसार-सिद्धान्त के तीन मार्ग हैं । ज्ञानी मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से ऊर्ध्वगति करता हुआ ब्रह्म तक पहुँचाया जाता है और वहाँ से पुनरागमन नहीं होता है । कर्म करने वाले पितृयान से ऊपर चन्द्रलोक को जाते हैं । वहाँ अपने कर्मों का फल भोगते हैं और वहाँ से फिर एक बार आकर पूर्व जन्म और नैतिक चरित्र के अनुसार जन्म लेते हैं । तृतीय वे जिनके न ज्ञान है और न कर्म, वे तीसरे स्थान में आते हैं अर्थात् वे क्षुद्र पशु-योनि में पैदा होते हैं या वनस्पति में और चन्द्रलोक में आनन्द के भोग से वंचित रहते हैं ।

(३) वेदान्त की पराविद्या जो उपनिषदों में अच्छी तरह अभिव्यक्त है, कहती है कि जीव ब्रह्म से अभिन्न है और नानारूप जगत् की सम्पूर्ण सत्ता एक भ्रम है। जो इस भ्रम में नहीं पड़ता है, उसके लिए न जीव का संसरण है और न ब्रह्म प्राप्ति, किन्तु वह स्वयं ब्रह्म है और ब्रह्म में ही वह शान्त हो जाता है। जैसा कि बृहदारण्यक में कहा गया है[१८]। हमारे दर्शन में उपर्युक्त तीनों मतों का समन्वय है।

अन्तिम मोक्ष के विषय में डॉ० पाल का मानना है कि "यह (सत्) पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सब विक्रियाओं से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाश—स्वरूप है, जिसमें धर्म और अधर्म, कार्य तथा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल नहीं है—वह अशरीरी (सत्) मोक्ष कहा जाता है।[१९]" स्पष्ट है कि मोक्ष के संप्रत्यय में वे ही लक्षण हैं, जो नियमपूर्वक ब्रह्म के लक्षण है और सचमुच ब्रह्म तथा मोक्ष की अवस्था एकार्थक शब्द है—**'ब्रह्म एव हि मुक्त्यावस्था'** क्योंकि मोक्ष ब्रह्म से अभिन्न होता है या यों कहिए, क्योंकि जीव और ब्रह्म का अभेद हमेशा रहता है और भ्रम से यह जीव से छिपा रहता है, इसलिए मोक्ष केवल इस ज्ञान का जागरण है कि हमारी आत्मा ही ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार मोक्ष में जो कुछ नहीं है, वह होने की बात नहीं है, किन्तु जो नित्य है उसके ज्ञान की केवल प्राप्ति है। इस कारण मोक्ष किसी प्रकार के कर्म से नहीं मिलता है और न नैतिक सुधार से, किन्तु केवल ज्ञान से। जैसे कि ईसाई मत में उद्धार केवल विश्वास से होता है। यह विश्वास वेदान्त के आध्यात्मिक ज्ञान के अत्यन्त सन्निकट है[२०]। कर्म शुभ तथा अशुभ भावी जन्म में प्रतिफलन की अपेक्षा करते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार के कर्म को करने से मोक्ष नहीं मिलता है, उल्टे वह फिर संसार में वापिस ले जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० पाल डायसन द्वारा वेदान्त दर्शन पर की गयी समीक्षा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के अत्यन्त सन्निकट है। यत्र-तत्र जो अलगाव या मत वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है, तो वह सम्भवतः शंकराचार्य को भली-भाँति न समझ पाने के कारण ही अधिक प्रतीत होता है। यथा- विभिन्न अपराविद्याओं के आवश्यक पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान शंकर को नहीं था- इस कथन में डॉ० पाल

डायसन का भौतिक ज्ञान के क्षेत्र में स्वयं को उत्कृष्ट सिद्ध करने का व्यामोह अधिक व शंकर की गहराई को मापने में असमर्थता ही अधिक दिखती है, अन्यथा पराविद्या के प्रसंग तक पहुँचते-पहुँचते वह यह कहते न दिखलाई पड़ते कि शंकर की जानकारी उतनी स्पष्ट थी, जितनी कि सम्भव थी। शंकर ने दोनों ही विद्याओं का इतना स्पष्ट व विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन कराया है कि कोई भी सम्भावना जैसे शेष नहीं रही । वेदान्त सम्मत पूर्वोक्त प्रमुख पाँच क्षेत्रों के अतिरिक्त भी डॉ० पाल भारतीय वेदान्त दर्शन से ही अत्यधिक प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी विचारधारा का मूलत: पथप्रवाहक भारतीय दर्शन ही है ।



सन्दर्भ-सूची

१. छान्दोग्य० ४/१-३

२. छान्दोग्य० ४/१-२

३. छान्दोग्य० ४/४

४. छान्दोग्य० ५/१०/७, आपस्तम्ब० २/५/११/१०, मनु० १०/६५, भगवदगीता ६/४५ आदि

५. वेदान्त-दर्शन, डॉ० पाल डायसन, अनुवादक-संगमलाल पाण्डेय, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ पृ० ६६ ।

६. वही पृ० ४८-४९ । ७. वही पृ० ५८ ।

८. संस्कृत साहित्य का इतिहास, ए०वी०कीथ, अनुवादक-मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, पृ० ६०१

९. वेदान्त दर्शन, डॉ० पाल डायसन, पृ० ९८

१०. वही पृ० १००, ११. वही पृ० १०३ ।

१२. वही पृ० १०५, १३. वही पृ० २६९-२७३ ।

१४. वही पृ० ३३३, १५. ऋग्वेद १०/१४/१० ।

१६. ऋग्वेद १०/१५२/४, १७. अथर्व० ९/२/४ ।

१८. बृहदारण्यक ४/४/६ ।

१९. वेदान्त दर्शन, डॉ० पाल डायसन, पृ० ३७३ ।

२०. वही पृ० ३७३ ।



वेदान्त विलास : दार्शनिक नाट्य परम्परा में अनूठा प्रयोग

वरदाचार्यकृत 'वेदान्तविलास' नट्य जगत् का अनूठा दार्शनिक नाटक- रत्न है । इसे 'यतिराज-विजय' के नाम से भी जाना जाता है। १९५६ ई० में तिरुमल-तिरुपति-देवस्थान तिरुपति से प्रकाशित इस नाटक का सर्वप्रथम मञ्चन (अभिनय) भगवान् विष्णु की चैत्रोत्सव यात्रा के अवसर पर श्रीरङ्ग में हुआ । सत्रहवीं शती[१] में रामानुज के वंश में प्रार्दुभूत, रामानुज के अनुयायी, काञ्चीपुरी के दार्शनिक विद्वान् वरदाचार्य जी अम्मल आचार्य के नाम से भी जाने जाते हैं। इनके पिता सुदर्शन के लिए विख्यात है कि वे एक घड़ी में सौ पद्यों की रचना कर डालते थे । इसीलिए उनकी प्रसिद्धि घटिकाशत के नाम से हुई । वेदान्तविलास और वसन्ततिलकभाण-ये दो रचनाएँ वरदाचार्य जी की प्राप्त होती है, जिनमें से वेदान्तविलास में कवि की दार्शनिक प्रवृत्ति का वैशिष्ट्य प्राप्त होता है, जबकि अपर रचना वसन्ततिलकभाण में वसन्तविलास की शृंगारिक वृत्ति उनके लोकान्तिक होने का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करती है ।

संस्कृत नाटकों में प्राय: कथानक व पात्र पौराणिक कथाओं पर आधारित, ऐतिहासिक राजाओं की यशोगाथा, प्रेमगाथा अथवा भक्ति कथाओं पर आधारित या राष्ट्रीय पृष्ठभूमि वाले ही प्राप्त होते हैं । नाटकों के समृद्धिकाल में श्री हर्ष विरचित 'नागानन्द' नाटक लीक से कुछ हटकर बौद्धधर्म और पौराणिक धर्म का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता हुआ मूलत: बौद्ध धर्म की परम्परा से प्राप्त कथानक वाला एकमात्र नाटक दृष्टिगत होता है, जो कि धार्मिक सहिष्णुता, समन्वय की भावना तथा आत्मोत्सर्ग के आदर्श की उत्तम अभिव्यक्ति कहा जा सकता है । इसकी कथा विद्याधर जातक पर आधारित बोधिसत्व के चरित्र को प्रस्तुत करती है । जीमूतवाहन का चरित्र संस्कृत नाट्य

साहित्य में दुर्लभ एक विशिष्ट चरित्र है, जो कि बुद्ध के जीवन दर्शन को बोधिसत्व के त्याग और बलिदान की कथा के माध्यम से निरूपित करते हुए अहिंसा और परदुःखकातरता के आदर्श को स्थापित करता है ।

इसके पश्चात् नाटकों का विकास काल आता है, जो दसवीं से बीसवीं शताब्दी के मध्य का कालखण्ड है । इस कालखण्ड के अन्तर्गत ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कृष्णमिश्रकृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक शान्तरस प्रधान दार्शनिक तथा प्रतीकात्मक नाटक उपलब्ध होता है । यूँ तो अश्वघोष के नाटक भी प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करते हैं, किन्तु वे उपलब्ध नहीं है । 'प्रबोधचन्द्रोदय' दार्शनिक नाट्यपरम्परा की प्रवर्तक कृति है । इसमें अद्वैत वेदान्त दर्शन को नाटकीय व रोचक रूप में प्रस्तुत किया गया है । सत् और असत् प्रवृत्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को उजागर करते हुए अन्त में सत्प्रवृत्तियों की विजय दर्शायी गयी है । मन की दो अवस्थाएँ प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इसमें मन की दो स्त्रियाँ हैं, जिनसे क्रमशः मोह और विवेक का जन्म होता है । काम, लोभ, हिंसा, अहंकार आदि मोह के परिजन हैं । लोभ उसका पुत्र तथा तृष्णा उसकी पुत्रवधू है, जिनसे दंभ नामक पौत्र जन्म लेता है । मोह की शक्ति के सामने कुछ समय के लिए नायक विवेक, परास्त हो जाता है, किन्तु अन्त में मति, श्रद्धा, विष्णुभक्ति आदि के सहयोग से मोह की सेना पराजित होती है और राजा मन प्रवृत्ति-पुत्र-मोह के अन्त से दुःखी होकर दूसरी पत्नी निवृत्ति को अपना कर निर्वृत्त होता है । विवेक उपनिषद् का पाणिग्रहण कर प्रबोधचन्द्रोदय को जन्म देता है । इस प्रकार इसमें श्रद्धा, विवेक मति, करुणा, शान्ति, उपनिषद्, क्षमा तथा विष्णुभक्ति सदृश (अमूर्त) सत् पात्रों का काम, लोभ, अहंकार, महामोह, मिथ्यादृष्टि, हिंसा व तृष्णा सदृश (अमूर्त) असत् पात्रों के साथ द्वन्द्व प्रदर्शित है। अमूर्त पात्रों के संवाद भी बड़े ही सरस, रोचक व प्रभावशाली हैं ।

इसी परम्परा में वेदान्तविलास का कथानक इससे कुछ भिन्न, रामानुज-वेदान्त का परिचायक व कुछ-कुछ जैन कवि यशःपाल के

मोहराज-पराजय की कथावस्तु के समान है । छः अङ्कों वाले इस नाटक में रामानुज का जीवन चरित ही मानों कथावस्तु के रूप में लिया गया है । इसके भी पात्र प्रतीकात्मक व मानवादि हैं । कुल मिलाकर ३८ पात्रों में से लगभग १५ पात्र इसके प्रतीकात्मक हैं व शेष पात्र ऋषि, मुनि, मानवादि हैं । दोनों ही तरह (मानव पात्र और प्रतीकात्मक पात्र) के पात्र रंङ्गमञ्च पर वार्तालाप करते हैं, जो कि छायातत्त्व को जन्म देता है । यथा—

धर्मः - (उपसृत्य) अयमहमुपनतोऽस्मि ।

यतिः - (सादरम्) धर्म, इदमासनमुपविश्यताम् ।

धर्मः - भगवन्, अलमत्यादरेण । (इति भूमावुपविशति) ।

यतिः - अपि दृष्टो राजा वत्सेन ।

धर्मः - (सविषादम्) राहुगृहीतो रजनीकरः कथं दृश्यते ।

नाटक की भूमिका धर्म आदि भावात्मक सत्ताओं की है । यथा ईश्वर रूप ग्रहण करके रामादि बनता है, तथैव वेदान्तविलास में धर्म आदि मानव रूप धारण करके रङ्गमञ्च पर आते हैं । दूसरी दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि धर्म नामक भूमिका या चरितनायक ही इसमें धर्ममय पुरुष है । संक्षेप में नाटक की कथावस्तु कुछ इस प्रकार द्रष्टव्य है—

'सर्वैर्विलुप्तविषयः सचिवैः पुरस्तात्

सम्यग्विचिन्त्य सचिवेन यतीश्वरेण ।

सम्प्रापितः स्वपदवैभवमद्वितीयं

सम्राडसौ खलु भविष्यति वेदमौलिः ।।'

नायक वेदान्त राजा मायावाद के चमत्कार से सत्पथ से भ्रान्त होकर अपनी पत्नी सुमति का तिरस्कार कर देता है और भ्रष्टाचार-परायण मिथ्यादृष्टि का पाणिग्रहण करता है । इस कार्य की सम्पन्नता में चार्वाक और बौद्धादि उसके मंत्री होते हैं । अन्त में, नायक यतिराज द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश से अपनी विकृति का संज्ञान लाभ करता है

और अपनी पत्नी सुमति को पुनः प्रतिष्ठित महिषी के स्थान पर समादृत करता है । इस प्रकार अन्धकार की स्थिति समाप्त होने पर उसका उद्धार होता है । इस सम्पूर्ण कथानक में वेदमौलि (वेदान्त) नायक है, यतिराज रामानुज मन्त्री है और धर्म अनुचर है । चार्वाक, शङ्कर, भास्कर तथा यादव आदि अन्य चरित-नायक हैं । भरत, जनक, नारद आदि इसके प्रमुख पात्र हैं । नारद के शब्दों में—

'निरस्य तिमिरं भानुर्निधत्ते जगति श्रियम् ।
एवमेनं यतीन्द्रोऽपि स्वपदे स्थापयिष्यति ।।'

नाटक के अन्तर्गत एकोक्तियों की संयोजना ने न केवल वेदान्त के अपितु जैन, बौद्धों के विविध सम्प्रदाय, पाशुपत, यादवीय द्वैती, भास्करीय तथा मायावादी आदि सम्प्रदायों की अनेकानेक गुत्थियों व मान्यताओं को इतने सरल व सहज ढ़ंग से सुलझाकर प्रस्तुत किया है, जिसे कोरी दार्शनिक दृष्टि से समझना आम इन्सान के लिए सम्भव न था । आध्यात्मिक जगत् से वरदाचार्य जी अपने प्रतीकात्मक पात्रों के संवादों व परिस्थितिजन्य संयोजनाओं से ऐसे परिचित कराते हैं कि उनकी छाप हृत्पटल पर स्वाभाविक रूप से अमिट अंकित हो जाती है। ऐसी ही एकोक्ति प्रथम अङ्क के आरम्भ में अकेले नायक द्वारा कहते हुए देखी जा सकती है—

'भेदोपजीव्यपि भिनत्ति तमेव भेदं
मानं प्रतिक्षिपति मासपरायणोऽपि ।
सोऽयं प्रमाणपुरुषैः स्वकरोपनीतान्
मिथ्येति वक्ति मिषतोऽपि हरन् महार्थान् ।।'[२]

मन्त्री रामानुज अकेले रङ्गमञ्च पर अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन जिस एकोक्ति के माध्यम से करते हैं, वह द्रष्टव्य है—

'वासो मुक्तपटच्चराणि वसतिर्मूले तरोर्भोजनं
भिक्षास्सप्तनवा जलं तु सुलभं त्यक्तास्समस्तैषणाः ।
वर्गेषु त्रिषु निरस्पृहो भगवति न्यस्तात्मभारोऽपि सन्
चिन्तादन्तुर मानसोऽपि सचिवश्श्रीवेदमौलेरहम् ।।'[३]

अन्यापि—

'मदन्तस्सन्तापं शमयितुमलं रङ्गनगरी

समीराः कावेरीशिशिरलहरीशीकरमुचः ।

समुत्पुष्यल्लक्ष्मीस्तनतटपटीरद्रवमिलन्

मुकुन्दोरःक्रीडारसिकतुलसीसौरभमुषः ।।'[४]

दार्शनिक नाटक होते हुए भी शृङ्गार की निर्झरिणी लोकानुरञ्जनपरक बनकर यत्र-तत्र प्रवाहित हुई है । राजा वेदमौलि को छोड़कर मिथ्या के चले जाने पर राजा की विरह व्याकुलता द्रष्टव्य है—

'मा त्वं प्रयाहि मदिराक्षि मया कृतं ते

पश्यामि नाल्पमपि दोषमथापि किं माम् ।

काष्ठागतप्रणयकन्दलितं जहासि

का वा गतिर्मम भविष्यति काङ्क्षतस्तव ।'[५]

इतना ही नहीं, इतिहास को देखकर तो वह अधीर हो और भी विह्वल हो उठता है—

'सौदामिनीव मेघं मां त्यक्त्वा मायाविलासिनी ।

गताहं किं करिष्यामि विरहानलविहलः ।।'[६]

इस प्रकार सांसारिक माया-मोह जनित अज्ञान से लेकर ज्ञान के आलोक में स्वरूपज्ञान पर्यन्त सभी स्थितियों का कवि ने अमूर्त पात्रों के संवादों तथा एकोक्तियों के माध्यम से बड़ा ही सरस, रोचक व प्रभावशाली चित्रण किया है। नाटक में सूत्रधार स्वयं वेदान्तविलास की शैली को मधुर-मधुपदावली से सरस बतलाता है—

'कर्णामृतानि च भवन्ति कवीन्द्रवाचः ।'

भाषा भी अति सरस व बोधगम्य है । संवादों में व्याख्यान नहीं है, किन्तु शास्त्रार्थ या शिक्षण की योग्यता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है ।

यद्यपि दार्शनिक व प्रतीकात्मक नाटक बहुसंख्य नहीं कहे जा सकते हैं, किन्तु फिर भी इस परम्परा में आचार्य वेदान्तदेशिक का संकल्पसूर्योदय, वादिचंद्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय, दामोदर संन्यासी का पाखण्डधर्मखण्डन, गोकुलनाथ का अमृतोदय तथा आनन्दराय मखी के विद्यापरिणय व जीवानन्द, नल्लाध्वरि का चित्तवृत्तिकल्याण और शिवकृत विवेकचन्द्रोदय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कलियुगीन समस्याओं व तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का बखूबी चित्रांकन हुआ है । आज भी यह परम्परा प्रवहमान है. इसका हमें वेंकटराम राघवन् के 'विमुक्तिः' नामक प्रहसन से स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है ।[७]



सन्दर्भ-सूची

१. आधुनिक संस्कृत नाटक, राम जी उपाध्याय, पृ० २४३

२. वेदान्तविलास, वरदाचार्य, १/३०

३. तत्रैव १/३२

४. तत्रैव १/३३, ५. तत्रैव २/२३ ।

६. तत्रैव २/२४

७. संस्कृतसाहित्य का अभिनव इतिहास, डॉ०राधावल्लभ त्रिपाठी,पृ० ४६१ ।



संस्कृत एवं शाङ्करी शिक्षा

संस्कृत संस्कार-सम्पन्न भाषा है । यद्यपि संस्कार शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु यहाँ संस्कार से तात्पर्य पदों में विद्यमान प्रकृति और प्रत्यय आदि से है । शुक्लयजु:प्रातिशाख्य का सूत्र है—**'प्रकृति-प्रत्ययादिः संस्कारः'** - इसी सूत्र पर भाष्यकार उव्वट ने लिखा है—

'आदिशब्देन वर्णागमलोपविकारा गृह्यन्ते ।'

तात्पर्य यह है कि जिस भाषा के शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय का विभाग परिलक्षित होता हो तथा वर्ण का आगम, वर्ण का लोप और वर्ण-विकार भी ज्ञात हो - ऐसे शब्दों से युक्त भाषा ही संस्कृत भाषा है । वाक्यपदीय के प्राचीन टीकाकार श्री वृषभाचार्य के अनुसार—

'न विशिष्टोत्पत्तिरत्र संस्कारः, अपितु प्रकृति प्रत्ययादिभिर्विभागा-न्वाख्यानम्'[1]**।**

यहाँ संस्कार शब्दों में किसी वैशिष्ट्य के जनन की बात अभीष्ट नहीं है, अपितु प्रकृति और प्रत्यय आदि का विभागात्मक अन्वाख्यान अभिप्रेत है । यह संस्कार वेदाङ्ग - व्याकरण द्वारा किया जाता है और संस्कृत-भाषा-गत वर्णों के यथातथ्य उच्चारण और परिज्ञान के लिए एक अन्य स्वतन्त्र वेदांग है, जिसे 'शिक्षा' कहते हैं और यह वेदपुरुष का नासिकास्थानीय है—**'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'** - (पाणिनीय शिक्षा)। ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में विष्णुमित्र ने लिखा है—

'शिक्षा स्वरवर्णोपदेशकशास्त्रम् ।'

उदात्तादि स्वरों तथा वर्णोच्चारण के स्थान, करण और प्रयत्न के उपदेशक शास्त्र को शिक्षा कहते हैं । शिक्ष् विद्योपादाने - (भ्वादिगण) धातु से **'गुरोश्च हलः'**[2] सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' करके 'शिक्षा' शब्द निष्पन्न होता है । शिक्ष धातु का अर्थ है विद्या का उपादान। उप+आदान अर्थात् किसी के समीप (उप) जाकर कुछ ग्रहण (आदान) करना । गुरु के समीप जाकर ग्रहण करने से ही शिक्षा प्रारम्भ

होती है । ध्यातव्य है कि 'शिक्ष' धातु गुरुमान है (गुरुवाला है - **'संयोगे गुरुः'**) उससे 'गुरोश्च हलः' से 'अ' प्रत्यय होकर 'शिक्षा' शब्द की निष्पत्ति हुई और **'अकारो वासुदेवः स्यात्'** तथा **'प्रत्ययः प्रतीतिः'** - अर्थ करने से वासुदेव की प्रतीति का भाव भी व्यक्त होता है । आत्मा के कल्याण के लिए परमात्मा की प्रतीति कराना भी शिक्षा का भाव है।

विद्योपादान अर्थ में पठित 'शिक्षा' शब्द वेदों में प्रायः **'शक मर्षणे'** धातु के सन्नन्त रूप में है, जिसका अर्थ **'सहने की शक्ति'** है। पाणिनी के अनुसार 'शिक्षा' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं—

'सनि मीमाधुरभलभशकपतपदामच इस'[३]

शक्लृ-शिक्षति, शक मर्षणे इति दिवादिः । शिक्षति अर्थात् शक्लृ शक्तौ, शक मर्षणे-इन दोनों के ही सन्नन्त में 'शिक्षा' पद बनता है । ननु निरनुबन्ध परिभाष या 'शक मर्षणे, इत्यस्यैव ग्रहणमुचितमिति चेत् । अत्राहुः - इयं हि परिभाषा प्रत्ययग्रहणविषया । इससे अश्व-गज की शिक्षण चेष्टा, गुरु गृह में रहने की शिक्षा की चेष्टा एवम् अभ्यास भी गृहीत है । 'शिक्षा' शब्द शंका और जिज्ञासार्थ में भी है—

'शक्ति-शंकायाम्' 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' - पाणिनि वार्तिक[४] के अनुसार इस जिज्ञासा अर्थ में 'शिक्षते' आत्मनेपद होता है । पाणिनि के समय में शिक्षाकाल ब्रह्मचर्य कहलाता था - तदस्य ब्रह्मचर्यम्[५] । पाणिनि स्वयं शिक्षा के परम प्रेमी एवं यावज्जीवन शिक्षापरायण ही रहे - 'यावज्जीवति तावदधीते'[६] - (काशिका, बाल मनोरमा)

शिक्षा-ग्रन्थों को वेदों के साथ सम्बद्ध किया गया है । प्रत्येक वेद से सम्बद्ध शिक्षाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) ऋग्वेद से सम्बद्ध स्वर-व्यञ्जन एवं उपध्मान नामक दो शिक्षाएँ ।

(२) शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध ९ प्रमुख व २ अन्य शिक्षाएँ । कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ११ प्रमुख व ३ अतिरिक्त शिक्षाग्रन्थ ।

(३) सामवेद से सम्बद्ध ३ शिक्षा ग्रन्थ ।

(४) अथर्ववेद से सम्बद्ध मात्र माण्डुकी नामक शिक्षा ।

कृष्ण यजुर्वेद की ११ शिक्षाओं में से पाणिनि शिक्षा पञ्चम स्थानीय है। पाणिनीय शिक्षा संस्कृत भाषा का विशेष शिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थ है । शिक्षाशास्त्र के आदि प्रवर्तक भगवान् शङ्कर हैं । इनकी शिक्षा शाङ्करी शिक्षा कही जाती है। शिक्षा विषयक ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा 'शाङ्करी शिक्षा' ही है । भगवान् शङ्कर ने अपनी शिक्षा पाणिनि को दी। यथा—

'शङ्करः शाङ्करी प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते ।

वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः'[७] ।।

अर्थात् 'भगवान शङ्कर ने अहापोह कुशल दाक्षीपुत्र पाणिनि को वेदों से संग्रहीत अपनी दिव्य शाङ्करी शिक्षा प्रदान की, यह वस्तुस्थिति है ।' इस शाङ्करी शिक्षा के माहात्म्य को बताते हुए महर्षि पाणिनि कहते हैं कि—

'त्रिनयनमुखनिःसृतामिमां, य पठेत् प्रयतः सदा द्विजः ।

स भवति धनधान्यकीर्तिमान्, सुखमतुलं च समश्नुते दिवि'[८] ।।

'भगवान त्रिनयन शङ्कर के मुख से निर्गत इस शिक्षा को जो द्विज संयत होकर प्रतिदिन पढ़ता है, वह इस लोक में धन धान्य और कीर्ति प्राप्त करता है तथा अन्त में स्वर्ग पहुँच कर वह अतुल सुख का भोग करता है ।' शाङ्करी शिक्षा की अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं, जिनका उल्लेख पाणिनि ने किया है । यथा—

'त्रिषष्टिश्चतुः षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः[९] ।'

शङ्कर के समय में वर्णों की संख्या के विषय में दो प्रकार के मत प्रचलित थे और ये दोनों ही मत शङ्कर को अभीष्ट थे । यथा कुछ लोग ऌ वर्ण को केवल ह्रस्व मानते थे और वर्णों की संख्या इनके मत में ६३ थी । इसी के समानान्तर एक दूसरे मत के पोषक विद्वान् ऌ वर्ण को । ह्रस्व के साथ-साथ प्लुत भी मानते थे, जिससे इनके मत में वर्णों की संख्या ६४ थी । यद्यपि अब तो यह संख्या घट कर व्यवहार में मात्र ५९ वर्ण की ही रह गयी है । ५ वर्णों की चर्चा प्रतिशाख्य ग्रन्थों में ही

सुरक्षित रह गयी है । वे ५ वर्ण इस प्रकार हैं—१-दुःस्पृष्ट तथा ४-यम ।

इसी प्रकार उच्चारण स्थानों की संख्या में भी बहुत मतान्तर प्राप्त होते हैं । प्रचलित शिक्षा शास्त्रों में उच्चारण स्थान सात ही परिगणित हैं । यथा—१- कण्ठ, २- तालु, ३- मूर्धा, ४- दन्त, ५- ओष्ठ, ६- नासिका, ७- जिह्वामूल ।

किन्तु शाङ्करी शिक्षा के अन्तर्गत उरस् (हृदय) को भी उच्चारण स्थान के अन्तर्गत लिया गया है । जैसा कि पाणिनि कहते हैं—

'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च[१०] ।।'

वर्णों के उच्चारण स्थान आठ होते हैं—१- हृदय, २- कण्ठ-३-मूर्धा ४-जिह्वामूल ५- दन्त, ६- नासिका, ७- ओष्ठ, ८- तालु ।

वर्णों के स्पष्ट व शुद्ध उच्चारण के लिए उत्तम गुरु से शिक्षा-शास्त्र के अध्ययन का विधान है—

'कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम् ।

न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्विषात्[११] ।।'

अर्थात् कुतीर्थ (आचरण से पतित या हीन गुरु, अयोग्य गुरु) से पाया हुआ वर्णोच्चारण का ज्ञान वर्ण को जलाकर अपवर्ण बना देता है और बिना गुरु के प्राप्त ज्ञान वर्ण को भक्षित कर लेता है । फिर उन अपवर्णों के अशुद्ध उच्चारण से होने वाले पाप से छुटकारा मिलना वैसे ही सम्भव नहीं हो पाता है, जैसे कि दुष्ट सर्प से छुटकारा प्राप्त करना असम्भव होता है ।

वर्णों के शुद्ध उच्चारण से शब्द की शुद्धि और स्पष्ट भावाभिव्यक्ति होती है, क्योंकि भाषा की लघुतम ध्वनि 'वर्ण' है । अतः वर्णों के उच्चारण पर विशेष बल देना ही इस 'शिक्षा' का प्रमुख उद्देश्य है । यही कारण है कि 'शिक्षा' को 'वर्णोच्चारण शिक्षा' भी कहा जाता है । एक भी शब्द उच्चारण की दृष्टि से शुद्ध रूप में प्रयुक्त हो, तो वह फलदायक होता है और अशुद्ध होने से हानिकारक । प्रचलित है कि एक बार देवासुर संग्राम में 'हे अरयः । हे अरयः ।' के स्थान पर 'हेलयः,

हेलयः' - इस प्रकार का अशुद्ध उच्चारण करने के कारण असुर पराजित हुए, जब कि वे देवताओं की तुलना में अधिक पराक्रमी व बलवान् थे—

'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः[१२] ।'

पाणिनीय शिक्षा में तो यहाँ तक कहा गया है कि पूजा-पाठ, यज्ञ-दान, जप-तप, श्राद्ध आदि के क्रम में यदि उच्चारण में दोष आ जाता है, तो ऐसा दुष्ट शब्द अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता है । इतना ही नहीं वह 'वाग्वज्र' बनकर यजमान की ही हानि कर डालता है—

'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'[१३] ।

दुष्टा उच्चारण करने वाले की आयु घटती है तथा स्वररहित उच्चारण करने से व्याधि की पीड़ा होती है । यथा—

'अवक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम्'[१४] ।

अतः अक्षर का उच्चारण शुद्ध एवं स्पष्ट होना चाहिये तथा वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का समुचित श्रवण हो रहा हो । उच्चारण के सम्बन्ध में महर्षि पाणिनि का कथन है कि—

'व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां, तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्'[१५] ।।

अर्थात् व्याघ्री जैसे अपने बच्चों को दाँतों से पकड़ कर कहीं ले जाती है, तो वह डरी सी रहती है कि कहीं बच्चों के शरीर में दाँत गड़ न जाये अथवा बच्चे दाँतों से निकल कर कहीं गिर न जायें । वैसे वर्णों का उच्चारण न अधिक कठोरतापूर्वक और न ही स्खलनयुक्त करना चाहिये ।

वर्णों का प्रयोग ऐसा होना चाहिये कि वर्ण न अव्यक्त हों और न पीड़ित ही । वर्णों का सम्यक् प्रयोग करने वाला विद्वान् ब्रह्मलोक में भी सम्मान पाता है—

'एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः ।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते[१६] ।।'

पाणिनीय व्याकरण की रचना विक्रम से लगभग २८०० वर्ष पूर्व हुई थी। वर्तमान में प्राचीन आर्ष व्याकरणों में एकमात्र यही व्याकरण उपलब्ध है, जो प्राचीन आर्ष व्याकरणों का संक्षिप्त संस्करण है । इसीलिए कहा गया है—

'यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे[१७] ।।'

पाणिनीय व्याकरण के पाँच ग्रन्थ हैं :— १. शब्दानुशासन, २. धातु- पाठ, ३. गणपाठ, ४. उणादि सूत्र, ५. लिंगानुशासन ।

इनमें से शब्दानुशासन अर्थात् अष्टाध्यायी मुख्य है । शेष चार उसी के खिल या परिशिष्ट हैं । अष्टाध्यायी में आठ अध्याय और प्रति अध्याय में चार-चार पाद हैं । कुल मिलाकर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में लगभग ४००० सूत्र हैं ।

पाणिनीय व्याकरण पर अनेक व्याख्याएँ आचार्यों द्वारा की गयी हैं, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :—

वार्तिक :– पाणिनीय सूत्र-पाठ पर कात्यायन, भरद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति तथा वैयाघ्रपद आदि आचार्यों के वार्तिक प्रमुख हैं । इनमें से कात्यायन विरचित वार्तिक ही उपलब्ध है और यह सर्वोपरि है । पतञ्जलि के महाभाष्य का मुख्य आधार यही वार्तिक है । कात्यायन का समय विक्रम से २७०० वर्ष पूर्व माना जाता है ।

महाभाष्य– पाणिनीय व्याकरण पर सबसे महत्त्वपूर्ण कृति महर्षि पतञ्जलि विरचित महाभाष्य पर अनेक वैयाकरणों ने टीका ग्रन्थ लिखे, जिनके दो विभाग हैं । एक वे टीका-ग्रन्थ हैं, जो सीधे महाभाष्य पर लिखे गये और दूसरे वे हैं, जो कैयट विरचित महाभाष्य प्रदीप पर रचे गये । इनमें सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्य दीपिका' है । इसके अनन्तर महाभाष्य की जो महत्त्वपूर्ण व्याख्या हुई, वह कैयट विरचित महाभाष्यप्रदीप है। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और पाण्डित्यपूर्ण है । महाभाष्य जैसे दुरूह ग्रन्थ को समझने में यही मुख्य ग्रन्थ है । इस पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं ।

वृत्ति-ग्रन्थ–पाणिनीय सूत्र-पाठ पर अनेक वैयाकरणों ने वृत्ति ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें काशिका-वृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। वर्तमान में उपलब्ध काशिका के आठ अध्यायों में से प्रथम पाँच अध्याय जयादित्य विरचित हैं और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत हैं। काशिका के बाद भगवृत्ति, भाषावृत्ति तथा दुर्घटवृत्ति भी उपयोगी ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी पर २५ वृत्तियाँ और हैं। इनमें अभी तक केवल अन्नम्भट्ट की मिताक्षरा, औरग्भट्ट की व्याकरण - दीपिका तथा दयानन्द का अष्टाध्यायी भाष्य - ये तीन ही उपलब्ध हैं।

प्रक्रिया-ग्रन्थ– पाणिनीय व्याकरण का पठन-पाठन प्रक्रिया पद्धति से भी चलता है। इन प्रक्रिया ग्रन्थों में रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) तथा प्रक्रियासर्वस्व मुख्य ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तकौमुदी पर प्रौढ़- मनोरमा, बालमनोरमा, तत्त्वप्रबोधिनी और लघुशब्देन्दुशेखर व्याख्याएँ प्रमुख हैं। लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी व्याकरण शास्त्र के प्रवेशार्थ अत्यन्त उपयोगी हैं।

संक्षेप में, शिक्षाशास्त्र की विशेषताएँ, उद्देश्य, प्रवर्तन, महत्त्व एवं उपयोगिता का आंकलन इस प्रकार किया जा सकता है।



सन्दर्भ ग्रन्थसूची

१. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड कारिका ११ की वृत्ति की टीका

२. पाणिनि ३/३/१०३, ३. पाणिनि ७/४/५४

४. पा० वार्तिक १/३/२१, ५. पा० ५/१/९४

६. काशिका, बालमनोरमा

७. पाणिनीय शिक्षा ५६, ८. पा० शि० ६०

९. पा० शि० ३, १०. पा० शि० १३

११. पा० शि० ५०, १२. पातञ्जल महाभाष्य

१३. पा० शि० ५२, १४. पा० शि० ५३

१५. पा० शि० २५, १६. पा० शि० ३१

१७. देवबोधविरचित महा० टीका का प्रारम्भ ।



वैदिक अद्वैत-दर्शन

ब्रह्म के प्रतिपादक वेद के शिरोभाग अथवा अन्त में प्राप्त होने वाली मीमांसा उत्तरमीमांसा, वेदान्त तथा उपनिषद् के नाम से जानी जाती है । वेद के अंगभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकों में से ही अद्वैत (ब्रह्म) तत्त्व-प्रतिपादक भागों को पृथक् कर उनको ही 'उपनिषद्' नाम दिया गया है, जो कि बड़ा ही सार्थक है । कारण, **उप समीपं निषीदति प्राप्नोति इति उपनिषद्** अर्थात् जिसके द्वारा परम समीपभूत, एकमात्र नित्य चेतन सत्ता एवं जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारणभूत तथा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार हो, उसे उपनिषद् कहते हैं । एक-एक वेद में अनेकानेक उपनिषदें प्राप्त होती हैं । ये सभी उपनिषदें एकमात्र अद्वैत ब्रह्म का ही निरूपण करती हैं । एक ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है । दृश्यमान जगत् परमार्थ सत्य नहीं है । स्वप्न में देखे गये पदार्थ की तरह मिथ्या है । जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं- यही उपनिषद् सिद्धान्त है, जिसे श्रीशंकराचार्य जी ने श्लोकार्द्ध में ही कह दिया है—

'श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः ।।'

जीव और ब्रह्म के इसी अभेद अथवा अद्वैतता को उपनिषदों में यत्र-तत्र सर्वत्र दृष्टान्त, रूपक संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्यों द्वारा विविध युक्तियों, अनुभूतियों द्वारा दर्शाया गया है । छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि' महावाक्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है - जिसमें आरुणि और श्वेतकेतु के माध्यम से अनेकानेक युक्तियों द्वारा एकमात्र अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य निर्दिष्ट किया गया है । इस अभेद उपासना को निम्नलिखित चार माध्यमों से भलीभाँति विभिन्न उपनिषदों के सन्दर्भ में हृदयङ्गम किया जा सकता है—

१. जड़ चेतनात्मक इस जगत् में जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है। कोई भी वस्तु एक अद्वैत सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा से भिन्न नहीं है।

२. निर्गुण, निराकर, निष्क्रिय, निर्विकार ब्रह्म इस क्षणभङ्गुर नाशवान् दृश्यवर्ग जड़ माया से सर्वथा अतीत है।

३. जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ। अत: यह सब मेरा ही स्वरूप है।

४. जो नाशवान्, क्षणभंगुर, मायामय दृश्यवर्ग से अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरी ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है।

इस प्रकार दो भेद 'तत्' पद के व दो भेद 'त्वम्' पद के लक्ष्य करके उस अद्वैत की सिद्धि का अथवा इन दोनों पदों की अभिन्नता को समझने का प्रयास किया जा रहा है—

१. सर्वप्रथम तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार - **सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति ।**[१]

सृष्टि के आरम्भ में एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही था, जिसने इच्छा की कि मै अनेक नाम रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ और इस प्रकार वह ब्रह्म एक ही अनेक रूपों में हो गये। इसलिए यह जो कुछ स्थावर-जङ्गम जड़-चेतन जगत् है, वह परब्रह्म का ही स्वरूप है। यथा—

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म **वेदामृतं पुरस्ताद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्**[२] **।'**

अर्थात् यह अमृत स्वरूप पर ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचे की ओर तथा ऊपर की ओर भी फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण चराचर जगत् है, वह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है। इसके अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् में ही तृतीय मुण्डक द्वितीय खण्ड में—

'सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा, युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति[३] ।।'

सर्वथा आसक्ति रहित और विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषि लोग इस परब्रह्म को पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं । अपने आपको परमात्मा में संयुक्त कर देने वाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्मा को सब ओर से प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मा में ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।

माण्डूक्योपनिषद् में इसी आशय को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्[४] ।'

अर्थात् 'यह सबका सब जगत् पर ब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणों वाला आत्मा है, वह आत्मा भी पर ब्रह्म परमात्मा है ।'

छान्दोग्योपनिषद् में भी—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत[५] ।'

कहकर 'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय उस ब्रह्म से ही है' - इस प्रकार शान्त चित्त होकर उपासना करने की बात कही गयी है ।

२. 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ ब्रह्म का निर्विशेष स्वरूप है । जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक मायिक है । वास्तव में एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । कठोपनिषद् में इसी परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कुछ इस प्रकार हुआ है—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते[६] ।।'

ब्रह्म के इस शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, गन्ध रहित, अविनाशी नित्य, अनादि, अनन्त (असीम) महत्तत्त्व से परे सर्वथा सत्य रूप को जानकर मृत्यु के मुख से हमेशा के लिए छूट जाता है । अन्यथा तो—

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति[७] ।।"

विशुद्धमन से प्राप्त किये जाने योग्य परमात्म तत्त्व के अतिरिक्त जगत् में नानात्व को देखने वाला मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता और मरता रहता है । इसी भाव को मुण्डकोपनिषद् में कुछ इस प्रकार दर्शाया गया है—

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निकलं ध्यायमानः[८] ।।'

वह निर्गुण निराकार पर ब्रह्म न तो नेत्रों से, न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण किया जा सकता है । उस निरवयव परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक निरन्तर ध्यान करता हुआ ज्ञान की निर्मलता से देख पाता है । इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है - जो कि सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है । यथा तैत्तिरीयोपनिषद् में 'ब्रह्म' का स्वरूप वर्णित है—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[९] ।'

स्पष्ट है कि निर्गुण निर्विकार, निष्क्रिय ब्रह्म माया से सर्वथा परे है ।

३. अद्वैतता की सिद्धि के इस तृतीय चरण में 'त्वम्' पद से लक्षित मनुष्य को सम्पूर्ण भूतों में अपनी आत्मा को अर्थात् स्वयं को और अपनी आत्मा से सम्पूर्ण भूतों को ओत-प्रोत देखता है । तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी है, वह सब मेरा ही स्वरूप है । इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं— इस प्रकार की निरन्तर अनुभूति से युक्त साधक शोक और मोह से पार होकर विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मस्वरूप वाला हो जाता है । जैसा कि ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि—

'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः[१०] ।।'

क्योंकि घृणा, राग-द्वेष, शोक-मोह आदि विकारों की स्थिति भी तो द्वैत में ही सम्भव है, किन्तु जब एकत्व की अनुभूति होने लगती है, तो यह सब शान्त हो जाते हैं। इसी रहस्य को छान्दोग्योपनिषद् में अरुण के पौत्र और उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु, जो कि बारह वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययन के लिये गुरु के समीप जाता है, वह विद्यालाभ करके २४ वर्ष की अवस्था में जब वापस घर लौटता है, तो स्वयं को बुद्धिमान् मानता हुआ अभिमानवश पिता को प्रणाम नहीं करता। स्पष्ट था कि उसमें द्वैत की अनुभूति थी, जिसको देखकर ही पिता ने उससे पूछा कि—

'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः।

येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति[११] ।।'

हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! जो तू अपने को महामना पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, तो क्या तूने वह रहस्य आचार्य से पूछ लिया कि जिसको जानकर अश्रुत श्रुत, अविचारित विचारित व अविज्ञात ज्ञात हो जाता है। यह सर्वथा अद्वैत स्थिति में ही सम्भव है, क्योंकि उसको जानने के लिये दूसरा कुछ होता ही नहीं है। इस पर श्वेतकेतु ने कहा भगवन् वह आदेश कैसा है ? और तब उद्दालक ने वह अद्वैत बोध कराने वाला ज्ञान देना प्रारम्भ किया—

'यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं

विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्[१२] ।'

"हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड को जान लेने से समस्त मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि यह विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र है, सत्य तो केवल मिट्टी ही है।" इसी प्रकार अन्य लोहमणि व नखनिकृन्तन आदि उदाहरण देकर और अधिक जब स्पष्ट किया तो श्वेतकेतु ने कहा—

'न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवांस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच[१३] ।।'

'निश्चय ही मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे इसे जानते तो मुझसे क्यों नहीं कहते। अब आप ही मुझे भली प्रकार बतलाइये।' तब पिता ने कहा— 'अच्छा सोम्य बतलाता हूँ'—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्[१४]।'

'हे सोम्य ! आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।' इस पर श्वेतकेतु को विषय स्पष्ट न होने पर पूछने से पिता ने स्पष्ट करना प्रारम्भ किया कि सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत् के कार्य नाना प्रकार की आकृतियाँ सब वाणी के विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणु की भाँति सूक्ष्म है। समस्त जगत् का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु। वह 'सत्' वस्तु तू ही है - **'तत्त्वमसि।'**[१५] फिर भी स्पष्ट न होने पर श्वेतकेतु के पौनःपुन्येन पूछने पर इसी **'तत्त्वमसि'** महावाक्य का पिता ने नौ बार में अनेक दृष्टान्त और युक्तियों से 'सत्' तत्त्व को विस्तार से समझाया - जो कि उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य अद्वैत तत्त्व है।

इसी प्रकार बृहदारण्यक - उपनिषद् में भी ब्रह्म के विषय में कहा गया है—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वम- भवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्.......... न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषा स भवति।'[१६]

''पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवताओं में से जिस जिसने जाना वही तद्रूप हो गया।.... उस इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।''

बृहदारण्यकोपनिषद् में इस रहस्य को याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद के माध्यम से भलीप्रकार स्पष्ट किया गया है। यथा—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।'[१७]

"अरि मैत्रेयी ! सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी ! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।" तथा—

'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा।'[१८]

हे मैत्रेयी ! यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रियजाति ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा है।" इसी प्रकार—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति.... यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत् .....। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विज्ञानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।।'[१९]

"जहाँ (अविद्यावस्था में) द्वैत सा होता है, वहीं अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को देखता है ...... किन्तु जहाँ इसके लिये आत्मा ही हो गया, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे...... । जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने। हे मैत्रेयी ! विज्ञाता को किसके द्वारा जाने ?

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में तो अद्वैतवाद का चरम निदर्शन युक्तियों, अनुभूतियों के माध्यम से प्राप्त होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति सम्पूर्ण चराचर जगत् को ब्रह्ममय बना देती है। सम्पूर्ण विश्व आत्मा में ही लीन हो जाता है।

४. अन्त में उस निराकार, निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्मा को एकीभाव से जानकर मनुष्य उसी को प्राप्त हो जाता है। बृहदारण्यक में ही इसको इस प्रकार दर्शाया गया है—

'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।'[२०]

अर्थात् जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है । इस रहस्य को बृहदारण्यकोपनिषद् में ही याज्ञवल्क्य और राजा जनक की सभा में उपस्थित अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु आदि के द्वारा किये गये प्रश्नों के माध्यम से बड़े ही सुन्दर व स्पष्ट रीति से विस्तार के साथ बताया गया है । चाक्रायण उषस्त के द्वारा याज्ञवल्क्य से साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म व सर्वान्तर आत्मा के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करने पर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि—

'एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो- - -एष त आत्मा सर्वान्तरः ।[21]'

उषस्त के पुनः पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि—

'सर्वान्तरः । न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतार शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ।'[22]

यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है । तू उस दृष्टि के दृष्टा को नहीं देख सकता, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकता, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकता, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकता । तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है । इससे भिन्न आर्त अर्थात् नाशवान् है । यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया । इसी को फिर कौषीतकेय कहोल के द्वारा पूछने पर पुनः याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट किया । पुनः आरुणि उद्दालक के अन्तर्यामी का वर्णन करने को कहने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।''[23]

अर्थात् जो पृथ्वी में रहने वाला पृथ्वी के भीतर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । तथा—

'अदृष्टो दृष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति दृष्टा नाऽन्योऽतोऽस्ति श्रोता विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ।'[24]

वह दिखाई न देने वाला किन्तु देखने वाला है, सुनायी न देने वाला किन्तु सुनने वाला है, मनन का विषय न होने वाला किन्तु मनन करने वाला है और विशेषतया ज्ञात न होने वाला किन्तु विशेष रूप से जानने वाला है । यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब नाशवान् है । यह सुनकर उद्दालक प्रश्न करने से निवृत्त हो गये । तत्पश्चात् वाचकवी गार्गी व शाकल्य विदग्ध ने अनेकों प्रश्न किये । अन्त में इसी रहस्य को समझाते हुए बृहदारणको-पनिषद् में ही गया है कि—

'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभय हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ।।'[२५]

"वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है ।" कारण, भय द्वैत में जन्मता है और जब दूसरा कुछ है नहीं तब किसको किससे व कैसा भय । यह 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्ग से अतीत आत्मा स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म की अभेदोपासना है ।

वस्तुतः वन्ध्यापुत्र, कूर्मरोग, शशशृंग, अथवा गगनारविन्द की भाँति द्वैत प्रपन्च को भी अद्वैतवाद के अनुसार सर्वथा तुच्छ वा अलीक नहीं कहा जा सकता है । यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे मनुष्य के निद्रादोष के कारण स्वप्न में देखा गया पदार्थ मिथ्या है, वैसे ही अविद्यारूप दोष के कारण जाग्रदवस्था में देखा गया पदार्थ भी मिथ्या है । एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत् है । ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी परमार्थ सत् नहीं है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता न होने पर भी सांसारिक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता और स्वप्न में देखे पदार्थों की प्रातीतिक व प्रतिभासिक सत्ता तो है । स्वप्नगत पदार्थ यथा स्वप्न में सत्य प्रतीत होते हैं, वैसे ही जागतिक पदार्थ व्यवहार दशा में ज्ञात होते हैं । यथा—

'देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।

लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ।।'

अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि वस्तुतः मिथ्या है, तो भी देह भिन्न आत्मा के ज्ञान के पहले सत्य विदित होती है। इसी प्रकार सारी लौकिक वस्तुओं के मिथ्या होने पर भी आत्मनिश्चय तक वे सत्य ही प्रतीत होती है। **"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते"** - तत्वज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता। निष्कर्षतः व्यवहार दशा में अद्वैतवादी भी जीवेश्वर भेद, द्वैत-प्रपञ्च तथा परमात्म का और जीवात्मा का उपास्य-उपासक भाव आदि स्वीकार करते ही हैं। वेदान्तवेत्ताओं के अनुसार 'माया नाम की कामधेनु के दो बछड़े हैं - जीव और ईश्वर। ये दोनों इच्छानुसार द्वैतरूप दुग्ध का पान करें, परन्तु परमार्थ तत्त्व तो अद्वैत ही है। यथा—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ।।

और यही अद्वैततत्त्व उपनिषदों को अभीष्ट है।



पुस्तक-सूची

१. तैत्तिरीयोपनिषद् २/६ २. मुण्डकोपनिषद् २/२/११।
३. वहीं ३/२/५, ४. माण्डूक्योपनिषद् २।
५. छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१,
६. कठोपनिषद् १/३/१५।
७. वही २/१/११, ८. मुण्डकोपनिषद् ३/१/८।
९. तैत्तिरीयोपनिषद् २/१ १०. ईशावास्योपनिषद् ६,७।
११. छान्दोग्योपनिषद् ६/१/२-३।
१२. वहीं ६/१/४, ६/१/५ एवं ६/१/६ भी द्रष्टव्य।
१३. छान्दोग्योपनिषद् ६/१/७, १४. वही ६/२/१।

१५. वही ६/८/७,

१६. बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१० ।

१७. वही २/४/५,

१८. वही २/४/६ ।

१९. वही २/४/१४,

२०. वही ४/४/६ ।

२१. वही ३/४/१,

२२. वही ३/४/२ ।

२३. वही ३/७/३,

२४. वही ३/७/२३ ।

२५. वही ४/४/२५ ।



आयुर्वेदचिकित्साविधाने दर्शनप्राधान्यम्

आयुरस्मिन् विद्यते अनेन वा आयुर्विन्दन्ति इत्यस्यायुर्वेदः । वेदो नामार्याणां सर्वादिमो ज्ञानविज्ञानविषयकशब्दराशिः । तत्रैव पूर्वेषां ज्ञानानि विज्ञानानि च भवन्ति । आर्याणां तपः प्रणिधानालोकोज्ज्वलेषु हृदयेषु प्रातिभप्रकाशरूपेण वर्तमानाव्याहतस्वरूपाद्यज्ञानसम्पद् वेदशब्देन व्यवह्रियते । ऋग्यजुस्सामथर्वनामभिर्वि-भक्तानां वेदानानुपवेदरूपेण धनुर्वेदगान्धर्ववेदस्थापत्यवेदायुर्वेदाः उल्लिख्यन्ते ।

अत्र केन वेदेनास्य आयुर्वेदस्य सम्बन्धः इति विचारणीयः । 'इह खलु आयुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य' - (सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान) इति सुश्रुताचार्यः आयुर्वेदस्याथर्ववेदेन सहाङ्गाङ्गीभावं निर्दिशति । अत्र उपशब्दस्सन्निकृष्टं सम्बन्धमभिप्रैति। आयुर्वेदस्योत्पत्तिविचारे 'अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्' - इति सुश्रुतोक्तेस्तौल्येन 'आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् ततो विश्वानि भूतानि' इति काश्यपसंहितायां सृष्टितोऽप्यायु-र्वेदस्य ज्यैष्ठ्यं निर्दिश्यमानमपि निमित्तनैमित्तिकयोः पौर्वापर्यानुक्रममनुसन्धाय बालकस्य पूर्वं स्तन्योद्गमनमिव सृष्टेः प्रथमतः आयुर्वेदविज्ञानं स्वरसतोऽपि भवति । अतः ज्ञायते पृथिव्यामितरदेशेभ्यो बहुकालात्पूर्वमेव भारतवर्षे चिकित्साशास्त्रमासीदिति । अतिप्राचीनेषु वेदेष्वपि बहवश्चिकित्साशास्त्रविषयाः समुपलभ्यन्ते । तेभ्यः कायचिकित्साप्रधानं चरकप्रतिसंस्कृतमग्निवेशतन्त्रं, शल्यचिकित्साप्रधानं सुश्रुततन्त्रञ्च तन्त्रद्वयमेव सम्प्रति सम्पूर्णं समुपलभ्यते । दैवदुर्विपाकवशाद् अन्यशालाक्यतन्त्रकौमारभृत्यागदतन्त्रभूतविद्या रसायन-तन्त्रादि सम्प्रति संवृत्तानि नाममात्रशेषाणि ।

एतेषु आयुर्वेदस्य प्रयोजनं किमित्यत्र भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुतं प्रति वदति **'वत्स सुश्रुत इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणञ्चेति ।'** अतः रोगचिकित्सा स्वास्थ्य-रक्षणञ्च आयुर्वेदप्रयोजनं भवति । भारतीयदर्शनानुसारं इदं शरीरं पाञ्चभौतिकं भवति । तस्य संरक्षणमेव भवत्यायुर्वेदस्य मुख्यं लक्ष्यम् । आयुर्वेदानुसारेण मानवशरीरस्थितिः वातपित्तकफनाम-कत्रिधातूनामुपरि आधारितो भवति । यदा एतेषां समावस्था नश्यति तदैव त्रिदोषनाम्ना बहवः रोगाः जायन्ते ।

एतेषामसमावस्थाकारणादेव रोगा: भवन्ति। आयुर्वेदस्य लक्ष्यमस्ति पञ्चभूतात्मकशरीरे विद्यमानरोगनिवारणं पञ्चभूतेभ्यो लभ्यमानौषधैरेव (प्रकृतिप्रसादितवन्यमूलकादिभिरेव) कार्यमिति। चिकित्सायाश्चत्वार: पादा: सन्ति। तदुक्तं सुश्रुतेन सूत्रस्थाने—

'वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारिक:।

एते पादाश्चिकित्साया: कर्मसाधनहेतव:।।

गुणवद्भिस्त्रिभि: पादैश्चतुर्थो गुणवान्भिषक्।

व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत्।।'

इति - (३५/२५-२६)

अत्र व्याध्युपसृष्ट: = रोगी, परिचारक: = सुश्रूषक: पुरुष:, कर्मसाधनहेतव:= आरोग्यहेतव: एवेति। पुनश्च—

'वैद्यहीनास्त्रय: पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थका:।

उद्गातृहोतृब्रह्माणौ यथाध्वर्यु विनाध्वरे।।'

इत्यस्मिन् श्लोके वैद्यस्य प्राधान्यं वर्तते। यथा यज्ञकार्यं उद्गाता = सामवित्, होता = ऋग्वेदवित्, ब्रह्मा तु त्रयीवित्, अध्वर्यु = यजुर्वेदवित् बिना अपार्थका: = निष्फला: तथैव वैद्यहीनास्त्रय: पादा गुणवन्तोप्यपार्थका:। भारतीयायुर्वेदवैद्य: पाश्चात्यवैद्येभ्यो भिन्न: भवति। पाश्चात्यरीति: वैद्यस्य कृते पदार्थविज्ञानशास्त्र-रसायनशास्त्रजीवशास्त्र-शारीरशास्त्रानामेव ज्ञानमावश्यकमिति। परन्तु चिकित्साविधाने आयुर्वेदवैद्यस्य न केवलमेतेषां ज्ञानं भारतीयदर्शनानां ज्ञानमपि अत्यावश्यकम्। आयुर्वेदसम्बन्धपदार्थविज्ञानरसायनजीवशारीरादिशास्त्राविषया: दर्शनानामाधारेणैव भणिता:। आयुर्वेदे प्रतिपादिता: बहव: सिद्धान्ता दर्शनेभ्य: एव सङ्ग्रहिता:। अत: दर्शनज्ञानं बिना आयुर्वेदशास्त्राध्ययनं कर्तुं नैव शक्यते। यथा—गौतमबुद्ध: स्वकीयेदर्शने चतुर्विधसाधनानि दु:खनिवारणाय उपदिशति — (१) दु:खस्य स्वरूपं किम्? (२) दु:खस्य कारणं किम्? (३) दु:खनिवारणाय किं कार्यम् (४) दु:खकारणनिरोधाय प्रतिपादनचिकित्सा का?

एते चत्वारः मार्गाः एवमेव आयुर्वेदचिकित्साविधानेऽपि प्रधानतयानुसरणीया भवन्ति । कारणं, चिकित्सायामपि एतच्चिन्तनं मुख्यं भवति यत् - (१) व्याधिलक्षणं किम् ? (२) व्याधेः कारणानि कानि ? (३) कथं व्याधिनिवारणं कार्यम् ? (४) कथं व्याधिकारणनिर्मूलनं कार्यम् ? इति ।

बौद्धदर्शने तृष्णा एव सकलदु:खहेतुः भवति । सर्वदु:खानां निवृत्तिः अस्याः निवारणे एव भवति । ततः निर्वाणप्राप्तिः भवति । आयुर्वेदानुसारेणापि व्याधिकारणीभूतदोषनिर्मूलनेन रोगनिवृत्तिः भवति । न केवलं दु:खकारणीभूततात्कालिक-रोगनिवारणं आयुर्वेदे लक्षितम्, अपितु शाश्वतदु:खमरणभयनिर्मूलनसाधनरूपेण योगाभ्यासः निरूपितः । चरकः पातञ्जलयोगमुररीकृत्य- शारीरस्थाने प्रथमाध्याये एवं कथयति—

'वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ।।
योगमोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिनिःशेषयोगो मोक्षप्रवर्तकः ।।
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते ।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ।।
निवर्तते तदुभयं वशित्वञ्चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञाः तं योगमृषयो विदुः ।।
आवेशश्चेतसो ज्ञानं अर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ।।
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते ।।
मोक्षो रजस्तमोभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ।।'

अस्यां चरकसंहितायां विद्यमानस्य श्लोकभागस्य सम्यक्ज्ञानं योगदर्शनज्ञानं बिना न भवति । अपि च आयुर्वेदवैद्यस्य वैद्योऽहमिति

कथनाधिकारोऽपि नास्ति योगशास्त्रज्ञानं बिना । योगशास्त्रे प्रतिपादिताष्टाङ्गानि अष्टैश्वर्याणि च शारीरस्थाने उल्लिखितानि आयुर्वेदे ।

अन्तःपरिमार्जनं बहिःपरिमार्जनं शास्त्रप्रणिधानमिति त्रैविध्यं आयुर्वेदचिकित्सासु दृश्यते । एवमेव त्रिविधा चिकित्सा हठयोगेऽपि अन्तः परिमार्जनं बहिः परिमार्जनमन्तःकरणपरिमार्जनमिति दृश्यते । पञ्चकर्मविधानमेव आयुर्वेदे अन्तः- परिमार्जनं नाम । हठयोगे एतदेव षट्कर्मविधानमिति नाम्ना प्रस्तूयते । सर्वेषामेव रोगाणां निधानं कुपिताः मलाः इति आयुर्वेदे रोगकारणमुक्तम् । तादृशप्रकुपित- मलशोधनाय आवश्यकं षड्कर्माचरणम् - नेति, धौति, नौलि, वस्ति, त्राटकं कपालभातिश्च । देहशुद्धिः नाडीशुद्धिः अन्तःशुद्धिश्च नित्यकर्माभ्यासेनैव भवति ।

'द्वासप्ततिसहस्राणि नाभिमध्ये व्यवस्थिताः । तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव व्याप्तं ताभिः समन्ततः ।। चक्रवत् संस्थिता ह्येता ....।' इत्यादि श्लोकेभ्यश्शरीरे २४ नाड्यः कुण्डलिनीयोगे नाभिसम्बन्धनाडीनां विवरणसमये वर्णिताः । सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणनाम नवमाध्याये मुख्यधमन्यः २४ इत्युक्त्वा तासु दशोर्ध्वं दशाधोभागं चतुश्च तिर्यग्रूपेणेति वर्ण्यते । अष्टाङ्गहृदयकारोऽपि—

'धमन्यो नाभिसम्बद्धाः विंशतिश्चतुरुत्तराः ।

ताभिः परिवृतो नाभिः चक्रनाभिरिवारकैः ।।

ताभिश्वोर्ध्वमधस्तिर्यग्देहोऽयमनुमुह्यते ।'

इत्यादिश्लोकैः धमनीनां नाभिसम्बन्धं न्यरूपयत् । योगशास्त्रे नाड्यः, आयुर्वेदे धमन्यः, आङ्गलेये नर्वस् इत्येतानि समानार्थकानि ।

एवमेव ब्रह्माण्डे कियन्तः भावाः वर्तन्ते ते पिण्डाण्डेऽपि भवन्ति इति मन्त्रशास्त्रे प्रतिपाद्यमानपिण्ड ब्रह्माण्डन्यायः चरकेण शारीरस्थाने स्वीकृतः । अत्र मानवस्य पिण्डाण्डः इति नाम । **'पुरुषोऽयं लोकसम्मितं..........यावन्तो हि लोके भावाः तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके'** इत्यादिश्लोके प्रतिपादितायुर्वेद-सिद्धान्तः भारतीयदर्शनासिद्धान्ततुल्यः भवति । आयुर्वेदवैद्यानां मन्त्रशास्त्रसम्प्रदायोऽप्यावश्यकः ।

आयुर्वेदे भक्तिमार्गोऽपि स्वीकृतः । भक्तिः सकलदुःख-निवारकदिव्यौषधं भवति । अत एव चरकेण त्रिविधचिकित्सासु भक्तिरपि स्वीकृतम् ।

आयुर्वेदभिषजे जैनदर्शनस्य सिद्धान्तानां ज्ञानमपि आवश्यकं भवति । यथा जैनदर्शने मोक्षमार्गत्वेन रत्नत्रयं प्रतिपादितं वर्तते - (१) सम्यक् भक्तिः, (२) सम्यक् ज्ञानं (३) सम्यक् चारित्रमिति । जैनदर्शने मोक्षप्राप्त्यै भागवतानां भक्तिः, वेदान्तिनां ज्ञानं, पूर्वमीमांसकानां कर्म च रत्नत्रयेण प्रतिपाद्यते । एवमेव चिकित्साकल्पेऽपि रोगनिवारणाय रत्नत्रयसदृशविषयत्रयमावश्यकं भवति - (१) वैद्ये विश्वासः (२) औषधं (३) औषधसेवा इत्येतत्त्रयं बिना रोगविमुक्तिः नैव भवति । यद्यपि सामान्यतया दर्शनेषु मोक्षप्राप्तिः केवलभक्तिमार्गेण, केवलज्ञानमार्गेण, केवलकर्ममार्गेण वा भवतीति कथ्यते, किन्तु जैनदर्शने एतत्त्रयमावश्यकम् । एवमेव आयुर्वेदे केवलं वैद्ये विश्वासमात्रेण रोगोपशमनं न भवति । किन्तु औषधसेवा, वैद्योक्तरीत्या आहारविहारेषु नियमोऽपि आवश्यकः भवति । एतद्विषयत्रयं बिना रोगनिवृत्तिर्नास्ति यथा रत्नत्रयं बिना जैनदर्शने मोक्षप्राप्तिः न भवतीति साम्यम् ।

अत एव एवं प्रतिपादयितुं शक्यते यत् चिकित्साविधाने आयुर्वेदवैद्यानां कृते अस्माकं भारतीयदर्शनानां ज्ञानं अत्यावश्यकमिति ।



VEDANTA : PHILOSOPHY AND CONTEMPORARY SIGNIFICANCE

The earliest Vedantic expression found in the Hymns of creation (Nasadiya Sukta, R.V. X.129) and other vedic Mantras have dominated the subsequent develoment of this system. The period of the upnishads spanning from the 8th to 5th century B.C. is the second important stage of the vedantic development in which the upnishadic seers (Risis) and their pupils not only discussed the nature of the mystic universe, ultimate reality and individual self, but also discovered the vedic truth of unity in diversity. "The reality is one, wise call it by different names."[1] The upnishads mark the highest development of vedic thought in philosophy and spirituality. Because of this and also because of being the concluding portion of the vast vedic literature, the upnishads are also called vedanta, the end or the quintessence, or the fulfilment of the vedas. Shortly, after this period, we find a condensed version of the upnishadic teachings in Badarayana Vyasa's 'Brahma-sutra and shrimad Bhagvad gita'. The Upnishads together with the Brahmasutra and the Gita, constitute the three basic texts of the vedanta Darshana, Thirteen centuries later, the celebrated philosopher shankara commented on these texts and produced a highly rational and consistent thought out of them. While doing so, he founded his world famous Advaita school, which is

the fairest flower of philosophy and religion that any country in any age has produced, where human thought has attained its highest expression and even goes beyond the mysteries which seem to be impenetrable.[2]

Ramanuja (11th century A.D.), Madhva (1199-1274 A.D.), Vallabha (1479 A.D.), Caitanya (15th century A.D.) dissented from Shankara's enterpretation of the upnishads and expounded the Vishishtadvaita (qualified nondualism), Dvaita (Dualism), Shuddhadvaita (pure non dualism) and Achintya Bhedabheda (Unthinkable Dualistic nondualism) schools of vedanta respectively.

The light of Vedanta has not woned even in this age of scientific achievements, with modern ex positions of Swami Vivekananda, Maharshi Aurobindo, Dr. Radha Krishnan and other contemporary vedantins, vedanta is now a universal philosophy.

It is evident from the brief historical account, given above, that vedanta is an ancient philosophical system of India and has continued unbroken for past five thousand years. To quote Swami Ranganathananda "In spite of its hoary antiquity, vedanta has been young and dynamic in every past epoch of history, But its most fascinating story is only just opening up in the context of modern world conditions created by science and technology in which the thinking humanity of the whole world has become its audience.[3]

Vedanta is the science of Brahman, the science of all sciences.[4] The absolute reality of Brahman and its identity with the atman or the individual soul and man's attainment of immortality through the realization of this identity are the fundamental concepts of vedanta.[5]

Brahman is the absolute of vedanta. It is the soul reality, "It alone was in the beginning."[6] Proclaim the upnishads. It has been described as having two aspests (a) acosmic and (b) cosmic. The first is devoid of attributes and the second is endowed with them. The one is called Nirguna or Para (Supreme) Brahman, while the other is called Saguna or apara Brahman.

(a) Acosmic Brahman - Brahman in this aspect is unconditioned, words can not describe the Nirguna Brahman which is devoid of characteristic signs, qualities or attributes, No human means by itself is adequate to the grasp of supreme Brahman "from whence all speach[7] together with the mind turns away unable to reach it. It can be described only through the language of negation 'neti neti' (no this, not this),[8] because it is one" which can not be seized or seen, which has no roots or attributes, no eyes or ears, no hand or feet ---- which is imperishable and is the source of all being.[9]

Brahman is free from all limitations. It transcends time, space and causality. Brahman is spaceless, because nothing is greater or smaller than it. In the words of the chhandogya upnishad "Brah-

man is myself with in my heart, smaller than a grain of rice, smaller than a grain of barley, smaller than a mustard seed, smaller than a canary seed. Brahman is myself with in the heart, greater than the earth, greater than the ether, greater than the heaven, greater than all these world's."[10]

Brahman is free from the limitations of past, present and future and hence timeless. It is eternal and with out begning or end. "It is the immortal light of all lights and It is that which is meditated upon by gods as longevity."[11]

Brahman is independent of Causation. It is not subject to any change, It is both causeless (akarana) and effectless (akarya). "The knowing self", says the katha upnished, is not born, it does not die. It has not sprung from anything, nothing has sprung from it. Birthless, eternal, everlasting and ancient, it is not slain, when the body is slain."[12]

The negative description of absolute or Brahman should not lead us to conclude that it is a negative indeterminate principle' or the shunya of Buddhism. It is of the nature of Sat (existence), Cit (consciousness or knowledge) and ananda (bliss).[13]

Brahman is sat or existence. It is the eternal existence on which the universe exists as a mirage on the desert. Brahman does not exist as an empirical object, for example a pot or tree-perceived by a subject but as absolute existence, without which the wordly object could not be perceived to exist.

Brahman is cit or consciousness. This consciousness in infinite and unlike the finite mind, is not related to any object. It is absolute consciousness which illumines or reveals the activities of the sence - organs and the mind during the states of waking and dream, as well as their inactivity in the state of dreamless sleep (sushupti). The consciousness of Brahman is ever-existence and self-luminous.

Brahman is bliss or ananda[14]. This bliss is unalloyed. It is not to be confused with the pleasures that a man derives from an agreeable worldly object or earthly beauty. Worldly pleasure is a very small part of the bliss of Brahman. The bliss of Brahman pervades all objects. Without it a man can not breathe. "He who is self-created is bliss. A man experiences happiness by tasting that bliss. Who could live, if that bliss did not exist in his heart ?"[15]

Sat - Cit and Ananda - eternal existence, infinite consciousness and unalloyed bliss - are not attribute of Brahman but Its very nature. Brahman is not endowed with them, Brahman is existence itself, consciousness itself and bliss itself. In the absolute there is no distinction between substance and attribute. Existence, consciousness and bliss refer to same entity. When one of them is present, the other two are also present. Absolute being is absolute consciousness and absolute bliss.[16]

(b) Cosmic Brahman or Ishvara - The supreme Brahman associated with the upadhi or limitation of maya is cosmic.[17] It is also called saguna Brahman

or Ishvara or God which accounts for creation, maintenance and destruction of the universe. "All beings arise from him, live in him and are absorbed in him."[18] He is "the lord of all, the knower of all, the inner controller of all --- the final heaven of all."[19] Brihadaranyaka describes him as one "whose body is spirit, whose form is light, whose thoughts are true, whose nature is like space, from whom all works, all desines and all tastes proceed."[20]

Ishvara is immanent and omniscient. He controls all the things from with in and holds them together. "He is controller and witness of every thing. He is not only the soul of nature but also the soul of souls."[21]

The para (acosmic) Brahman and the apara (cosmic) Brahman or Ishwara are not fundamentally different principles. The para Brahman, itself which is one, transcedent and unconditioned becomes, as it were, the apara Brahman in association with its indescribable power, Maya and appears to be many, immanent and conditioned. Brahman, in the former aspect, is pure consciousness and the immutable foundation of the universe, while in the latter, the omniscient and omnipresent Lord and the omnipotent creator of the universe. The first aspect is absolutely realy, while the second only relatively so.

The word atman is used predominantly in the sense of Jiva or the individual self. The inner immortal self of all individual bodies is atman or jivatman. Being Brahman itself its nature, it is unattached to the body, and does not undergo the changes and afflictions of body. It is immortal.[22] It can neither be indetified with changing body nor with the condi-

tionally existing senses or internal organ. It is also not a mere by-product of destructible matter.

Atman is identical with the supreme Brahman. The absolute is atman from the subjective side and Brahman from the objective side. In other words, Atman is the subject of experience and Brahman is the object of experience. One is microcosmic and the other is macrocosmic. Since absolute existence, absolute consciousness and absolute bliss constitute the very nature of Jiva and Brahman. Vedanta teaches their identity not only in the intutional state called turiya, but also in the state of waking (Jagrat), dream (Svapna) and sleep (susupti). Identity of Jiva and Brahman is the key-concept of vedanta which is supported by the following sentences of the upnishads. "This is my soul with in the heart, this is Brahman and into it, I shall enter departing from here"[23] "I am Brahman."[24] This self is Brahman".[25] "That Thou Art."[26]

It is explicit from the above statements of identity that man is divine and his liberation is therefore implicit in his very nature. He is the child of immortal bliss (amritasya putrah),[27] but due to avidya (or ignorance), he forgets his real nature, identifies himself with the unreal, inert and mortal body and experiences bondage. on the other hand, when he dispells the darkness of ignorance, through spiritual realization, his wrong notion of identity disappears and he attains the immortal state of liberation. The goal of man's life, therefore, according to vedanta, is self realization, the fullest manifestation of divine within,

in life and conduct. The only end of man's life is the complete manifestation of the Divine already in him. Food and clothing, shelter and security, power and knowledge, politics and society are not the ends of man's life. Science through its technology has equipped man with wealth, power and pleasure, yet he is full of tension and sorrow, and is not inwardly satisfied. Vedanta foresaw this predicament of modern man ages ago and said -

"यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।"[28]

"Men (through their technical skill) may role up the sky like a piece of leather, still there will be no end of sorrow for them without realizing the luminous one within."

Vedanta is not a creed or dogma but a practical philosophy built upon edifice of scientific reasonings. The vedantic conclusions are being affirmed even by the modern scientists. Sir Eddington was impressed with the immaterial nature of the word-stuff. To quote him, "I regard consciousness as fundamentals." "I regard matter as derivative of consciousness. "Einstein declairs "I believe in God who reveals himself in the orderly hormony of the universe."[29] Referming to this spiritual kinship between modern science and ancient vedanta, swami Vivekananda said in his speech at the Parliament of Religions held in Chicago in 1893.[30]

"Manifestation and not creation, is the word of science today, and the Hindu is only glad that what he has been cherishing in his bosom for ages is go-

ing to be taught in more foreible language and with further light, from the latest conclusions of science."

Vedanta is impersonal in approach and universal in spirit. It is a great boon to mankind. It is a message of real peace and happiness. Its only interest is welfare of all being (bhutahita) and social stability (lokasamgraha). Its concept of unity in diversity strengthems the bond of human fellowship and universal brotherhood, which we need badly today. It is the future religion of humanity which is restless in want of peace, with all worldly possessions and happiness in its hand. In conclusion, let us salute vedanta, which teaches the best yoga, which proclaims the unity of all existence, which promotes the happiness and welfare of all being, and which is free from strife and contradiction -

"अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखोहितः ।

अविवादो विरूद्धश्चदेशितस्तं नमाम्यहम् ।।"[31]



REFRENCES :

१. 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद् - १, १६४.४६)

२. Dilip, May-June, 1978, P. - 23

3. The appeal of Vedanta to Modern man in - 'Eter nal values of a changing society,' Bharatiya vidya Bhavan, Bombay, Third Edi tion, 1971, P. -32

४. 'ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्' (मुण्डक उपनिषद् १/१)

५. शंकर - गीता - भाष्य (१८/१३) एवं आनन्दगिरि -गीता भाष्य टीका (१८/१३)

६. 'आत्मा व इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐतरेयोपनिषद् १/१)
'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१७)
'ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्' (मैत्रायणी उपनिषद् ६/७)

७. 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २/४ एवं २/९)

८. वहीं

९. 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यदभूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥' (मुण्डकोपनिषद् १/१/६)

१०. 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्वीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा । एषम आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' - (छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/३)

११. 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' - (बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१६)

१२. 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥' (कठोपनिषद् १/२/१८), श्रीमद्भगवद्गीता २/२०

१३. 'सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म' (बृहदारण्यकोपनिषद् ५/४/१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (वही ३/९/२८), 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेयोपनिषद् ३/१/३), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/२) एवं "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।' (वही ३/६/१)

१४. 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छान्दोग्योपनिषद् ७/२३/१)

१५. 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।' (तैत्तिरीयोपनिषद् २/७/२)

१६. Swami Nikhilananda, The nature of Brah man in essays in east-west philosophy, Hanolulu, 1951, P.242.

१७. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यानमायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१०) एवं भी द्रष्टव्य ।

१८. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३/१),एवं (ब्रह्मसूत्र१/१/२) भी द्रष्टव्य ।

१९. 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण नैनं कृताकृते तपतः' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२२)

२०. वहीं ३/७/८ २१. वही २/५/१५

२२. 'न जीवो म्रियत' (छान्दोग्योपनिषद् ६/११/३)

२३. 'एष म आत्मान्तर्हृदय एतदब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि ।' छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/४

२४. 'अहं ब्रह्मास्मि' (वही १/४/१०)

२५. 'अयमात्मा ब्रह्म' (वही २/५/१९)

२६. 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७, ६/९/४, ६/१०/३, ६/११/३, ६/१२/३, ६/१३/३, ६/१४/३ ६/१५/३ एवं ६/१६/३) भी द्रष्टव्य ।

२७. श्वेताश्वतरोपनिषद् २/५, २८. वहीं ६/२० ।

२९. Modern Review, Calcutta, July 1937.

३०. Complete Works, Vol.1, Eleventh edition, P.15

३१. Gaudapada, Mandukya Karika, 4/2.

KUNDALINI YOGA

Bhuta Shuddhi or the practice of awakening of Kundalini is called Kundalini Yoga. By arousing of Kundalini Sadhaka activates and realises the Supreme Power which sleeps in Muladhara. The awakening of Kundalini is based upon a process technically known as Sat-chakra-Bhedana or piercing of the six centres or lotuses or padmas or chakras. They are known as Muladhara, Swadhisthana, Manipura Anahata, Vishuddha and Ajna respectively based on the spinal cord (Susumna Nadi) which is situated in the inner most portion of spinal column (Merudanda).

The word Kundalini means the Shakti which is in the shape of Kundala or that which is coiled. According to Swami Satyananda the word Kundalini comes from the word Kunda which means a deep place. So, Kundalini is a shakti which resides in a deep place (Kunda)[1]. It is also called Kutilangi, Bhujangi, Shakti etc. as Hatha-Yoga pradipika describes-

'कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ।।'[2]

The great commentator of tantric texts Sir John Woodroffe calls it serpent power[3]. It is Kundalakriti (coiled) and resides in the lowest centre of the body (Muladhara chakra) in sleeping way as Goraksha Paddhati describes-

'कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।'[4]

There are two forms of Kundalini. The first is called Adhara-Kundalini and the second one is Kula-Kundalini. Adhara-Kundalini is coiled three and half times over Swayambhu Linga in Muladhara Chakra at the base of spinal column. Piercing the six chakras it reaches in Sahasrara (thousand petalled lotus) and meets with Lord Shiva when it is called Kula-Kundalini. Piercing the six chakras the wise and excellent Yogi, rapt in ecstasy, leads Kula-Kundalini along with Jiva to the parama Shiva in the abode of liberation within the pure lotus and he meditates upon the Shakti who grants to him all the desires as Chaitanya-Rupa-Bhagwati-

'नीत्वा तां कुलकुण्डली लयवशाज्जीवेन सार्धं सुधी
र्मोक्षे धामनिशुद्ध पद्मसदने शैवे परे स्वामिनी ।
ध्यायेदिष्टफलप्रदां भगवती चैतन्यरूपां परां ।
योगीन्द्रो गुरुपादपद्मयुगलालम्बी समाधौ यतः ।।'[5]

In details, we would like to describe the location of Kundalini. This description will require further elaboration of certain physical features associated with it. For example Kanda is a vital physical element connected with it. According to Goraksha-Samhita (1.24.-26) Kanda, which is in the shape of an egg of a bird, is based above Medhra (Linga) and below Nabhi. From it 72000 Nadis (Nerves) originate through which prana (energy) flows and maintains the rhythm in the differant organs of the body,

out of these 72000. Nadis 72 Nadis are notable and out of these 72 Nadis 10 main Nadis (Channels) are very important. Out of these 10 Nadis 3 Nadis are supposed to be the most imortant which are known as Ida, Pingala and Susumna-

'ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभि: कन्दो योनि: खगाण्डवत् ।

तत्र नाड्य: समुत्पन्ना: सहस्त्राणां द्विसप्तति: ।।

तेषु नाडी सहस्त्रेषु द्विसप्तति उदाहृता: ।

प्रधाना: प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दशस्मृता: ।।

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयकां ।'

From the place of Kanda Ida flows from the left while pingala goes from the right. They go up in opposit direction and cross each other in different places of the body causing the following chakkras occur at such crossing named Swadhisthana, Manipura, Anahata and Vishuddha chakra. These two Nadis meet again between the eye-brows at the point of pineal gland. The place at which they meet is called Ajna chakra and there they also meet with Susumna Nadi (spinal cord). This place is called the confluence of three great shaktis. It is regarded as the prayaga by Yogis. Ida controls all the mental processes and pingala controls pranic processes. Ida and pingala when both the Nadis are simultaneously awakened then susumna also awakens and all the chakras get awakend instantaneously[6]. In this process Ida which starts from the left side of the Meru-danda (spinal column) ends in the left nostril and pingala starts from the right side of the spinal column and ends in the right nostril.

All these three nadis Ida, Pingala and Susumna originate from Kanda (Sacrum) where Muladhara chakra is situated -'कन्दः सर्वनाडीनां मूलम्'[7]. This Kanda is placed in the lower part of the body, two fingers above the anus and two fingers below the Medhra (Penis). In size it is about four fingers[8] (about three inches) in length and in breadth and angular in shape, broad above and narrow below covered with a substance like soft, flimsy plaited and white cloth. Accordingly to YajnaValkya it is located about nine fingers above the mid point of the body and extends about four fingers in length and width. The mid point of the body is supposed two fingers above the anus and equal number of fingers below the root of the penis. In Hatha-Yoga-Pradipika it is described nine fingers in length and four fingers in width. Thus Kanda can be identified with the sacrum.

From the middle of the Kanda and inside the Susumna Nadi, the vajra Nadi extends from Medhra to the head, and inside the vajra Nadi there is chittrini or chittra Nadi which is subtle as spider thread and piercers all the chakras which are located in Merudanda. In side the chittrini there is Brahman Nadi which extends from the orifice of the mouth of hara (Shiva) to the place of Adideva who resides in Sahasrara.

Brahman Nadi, which is fine like a lotus fibre and is extremely subtle originates from Brahmadvara. It is the intrance to the region sprinkled by Amrit (ambrosia)[9] where Kanda and Susumna meet there is

situated Adharapadma with four petal on four sides. It is located below the genitals and above the anus. It is attached to the mouth of Susumna[10] . The petals are red and have letters-Vam, Sham, Sam and Sam. In the pericarp there is the Dharamandala surrounded by eight spears and with in it there is the Dhara bija (lam). Inside the bindu of lam-bija there is child Brahman. Beside him there is Shakti.

In the pericarp of the lotus there is a triangle inside which there are Kama Vayu and Kama-bija (klim). In the triangle there in Swayambhu Linga which of Shyam Varna (black colcor) with head down wards. Over this Swayambhu Linga shines the sleeping Kundalini, fine as the fibre of lotus-stalk gently covering in the mouth of Brahma Dvara. Adhara Kundalini, in snake like form, coils three and a half times round Swayambhu Linga. Its lustre is that of a flash of sudden lightening-

'तस्योर्ध्वे बिसतन्तु सोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछायन्ती स्वयम्
शङ्खावत्निभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरिलसत्सार्ध त्रिवृत्ताकृतिः ।।'[11]

Kundalini is a form of Kala-Nada Shakti. It is called para-vak in Muladhara, Pashyanti in Swadhisthana, Madhyaman in Anahata and Vaikhari in Vishuddha chakra[12] one should meditate upon the Kundalini as his Ista-Devi, as being ever in the form of a damsel of sixteen years old, full of new youth with large and beautiful breasts decked with all kinds

of jewels, lustrous as the full moon, red in colour with ever restless eyes.

According to Basant G.Rele. Kundalini has been considered as a right vagus nerve. It supplies and controls all the important vital through the different plexuses of the sympathetic portion of the autonomic system[13]. There are two vagi the right and the left. The left vagus is not plentifully supplied with efferent fibres as the right. The right vagus nerve gains a direct connections with the solar plexus (Manipura-chakra) and the plexuses situated below it. The situation of the right vagus nerve can control the activities of all the six plexuses of the nervous system[14].

Through the practice of certain catches or Bandhas and Mudras (postures of the body) Kundalini can be awakened. It depends upon the process of pranayama. Pranayama is a combind process of inhaling (Puraka), retention (Kumbhaka) and exhaling (Rechaka) of Pranavayu (breath). There are eight types of Pranayama-Surya-Bhedana, Ujjayi, Sitkari, Shitali, Bhastrika, Bhramari, Murchha and plavani. But the awakening of the Kundalini takes place through the practice of Bhastrika Pranayama-

'कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडी मुखे संस्थं कफाघर्गलनाशनम् ।।
सम्यगगात्रसमुदभूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणेव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ।।[15]'

The process of Bhastrika Pranayama is as follow first of all one should sit in Padmasana, placing his left hand on the left knee. Then with the help of

two fingers (miaddle and fourth) held jointly, close the left nostril and inhale and exhale deep breathing without stop. This process must be done at least ten times. Then inhale and retain the breath and then exhale the carbonic acid by left nostril pressing the right nostril with thumb. Similarly close the right nostril and practice the same. Then inhale and retain the breath and then exhale the carbonic acid gas by right nostril pressing the left nostril.

In the second step one should first inhale from the loft nostril and exhale from the right. This process also must be done at least ten times. Then inhale from the right nostril and exhale from the left nostril also must be done ten times. After that in the third round one should inhale retain and exhale from both nostril. The time ratio of inhaling, retantion of breath and exhaling would be in the proportion of 1:4:2 respectively. One should began this practice with three pranayamas and should increase the numbers gradually.

Some yogic teachers accept that the retantion should be accompanied by the Jalandhara bandha. In this bandha the centre of perineum (Yoni) is firmly pressed by the heel of right foot as in Siddhasana, and the left leg is placed easily on the right thigh. Maintaing a prolonged inhalation while contracting the anus upwards in Mula-bandha the retention of the breath should be prectised with the head bent downward and putting chin firmly against the root of the neck.

This posture of the body is Jalandhara bandha. After this in the rechaka process of Pranayama the breath is exhaled and navel is drawn upwards with expansion of the lower part of the thorax till the abdomen is comletely flattened. This is called Uddiyana bandha. But the Jalandhara bandha is the root cause of the awakening of Kundalini.

In Mula-bandha the heel would be pressed in the centre of the perineum while at the same time the perineum would be contracted with the process of inhaling. This process stimulates the Muladhara (Pelvic aplexus) to action. This process blocks Apana Vayu (efferent impulses) from downward but presses the pranavayu (afferant impulses) to ascend upwards through the connecting fibres to the swadhisthana. Jalandhara banda stablis the Prana-Vayu in nevel area where it meets the Apana vayu. This meeting of Prana vayu and Apana vayu creates internal vibrations that is Nada or Shabda Brahma. The meeting of these two stimulates the end portion of the vagi in Manipura Chakra generating Vyana-Vayu and in its return it producess Udana Vayu which ascends upward piercing chakra through the spinal cord with coming out breath during Uddiyana bandha[16]. Gradually, step by step the great power Kundalini ascends Brahmarandhra chakra breaking through the Muladhara, Swadhisthana, Manipura, Anahata, Vishuddha and Ajna chakras and having crossed prithvi, Apas, Tejas, Vayu, Akasha and Manas elements of the respective chakras. Reaching sahasrara

kundalini meets with her spouse Lord Shiva -

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरूतामाकाशमुपरि ।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्त्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ।।[17]'

The practice of Mudras also helps to awaken Kundalini. There are many Mudra-practices in the Yogic world, such as Mahamudra, Mahabedha Mudra, Khechari Mudra, Viparita karini Mudra, Vajroli Mudra, Shakti Mudra, Yoni Mudra, Unmani Mudra, Shambhavi Mudra, Kaki Mudra, Ashvini Mudra, Tribandha Mudra, Matangi Mudra, Yoga Mudra etc. Among these Mudras Shakti chalini Mudra is the most important in the practice of the awakening of Kundalini-

'अवस्थिता चैव फणावती सा, प्रातश्च सूर्यः प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात् परिधानयुक्तया, प्रग्रह्य नित्यं परिचालनीया ।।'[१८]

The form of shakti chalini mudra is :- One should sit in vajrasana[19]. inhaling through the both nostrils pressing the breath down to the region of Muladhara so that it may contact with Apana Vayu. This may be practised through siddhasana also -

'भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेत् बलात् ।।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनि मुद्रया ।
यावद् गच्छेत् सुषुम्णायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ।।[20]'

One should try so that vayu begins to enter susumna. For this one will have to do Ashvini Mudra

(contracting and relaxing the anus with inhalation and exhalation respectively). In vajrasana the ankles are held backward together by bending the knees and drawn toward stomach and with the heels in a such position as to strike and press Mulakanda. Now practice shakti chalini Mudra. Sitting in vajrasana through Bhastrika Pranayama any one can awaken Kundalini-

'सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।।
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा कुण्डलीम् ।
कुर्यादेनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु प्रबोधयेत् ।।[21]'

Thus the kundalni arises upwards through the Susumna in the spinal cord. When it arises sadhaka feels as if ants are crawling in his spinal cord and at the same time pleasant sensations, vibrations and steadiness are being experienced.



REFRENCES :

1. Tantra of Kundalini Yoga (introduction, P.D.)
2. Hatha Yoga pradipika (3.104)
3. The Serpent power, page 1.
4. Goraksha paddhati 1.47-48
5. Satchakra-Nirupanam, verse 52
6. Tantra of Kundalini page 5.
7. Sat-Chakra-Nirupanam, verse 1 comn, (Vivarana)
8. Bhuta Shudhi Tantra, Ist patala as quoted in Vivarana of Sat-Chakra-Nirupanama, verse 1.
9. Hatha-Yoga-Pradipika, 3.113

10. Sat-chakra-Nirupanam, verse 3
11. Sat-chakra-Nirupanam, verse 10
12. Tantra-Raja-Tantra, 26, 5.3.
13. The mysterious Kundalini, page 67.
14. Ibid, page 51
15. Hatha-Yoga Pradipka 2.66-67
16. The mysterious Kundalini, page 67
Saundarya Lahari, verse 9.
17. Hatha Yoga Pradipika 3.112
18. Ibid 3, 114.
19. Gheranda samhita 3.49-50.
20. Hath Yoga Pradipika 3.114-115

औषनिषद्-वाक्-मीमांसा

विचार विनिमय का सर्वाधिक सबल एवं सशक्त माध्यम वाणी सत्य, शिव और सुन्दर की सर्वातिशायी अभिव्यञ्जना का सफल स्रोत है । इसी की वैदिक (अति-प्राचीन) संज्ञा वाक् है । ऋग्वेद के अनुसार—

'यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।

चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ।।'[१]

यह वाक् अविज्ञेय पदार्थों को बताती है । यह हर्षदात्री, स्वामिनीरूपा वाक् चारों दिशाओं में सर्वत्र अन्तरिक्ष में पय अथवा उदक (जल) का दोहन करती है, इसका परम रूप कहाँ चला जाता है, यह पता नहीं । ऐसी विज्ञानस्वरूप, आनन्ददात्री, स्वामिनीरूपा, रहस्यमयी चेतना के अमर उपहार (वाक्) के विषय में औपनिषदिक् उद्गार अत्यन्त मधुर एवं युक्तिपूर्ण हैं, जो इसके आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट कर वाक् को साङ्गोपाङ्ग हृदयङ्गम करने में अत्यन्त सहायक एवं उपयोगी हैं ।

औपनिषदिक वाक्-स्वरूप की पूर्वपीठिका तो वेदों की क्रोड में ही निहित है, जहाँ इसे रहस्य की कोटि में समाहित किया गया है । वैदिक ऋषि वाक् तत्त्व को मात्र अनुकरणमूलक (Onomatopoeic) अथवा मनोराग-व्यञ्जक (Interjectional) नहीं स्वीकार करते हैं । ऋग्वेद में ही वाक् को देवताओं ने उत्पन्न किया- ऐसा वर्णन प्राप्त होता है—

'देवीं वाचमजनयन्त देवाः'[2] ।

इतना ही नहीं संहिता वाक् के चार विभाग भी स्वीकार करती है - **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'**[3] जिनको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी - नामक चार रूपों का संकेत माना जाता है । यद्यपि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इससे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का

चतुर्विभाग ग्रहण किया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में यह विभाग कुछ अन्य ही रूप में व्यक्त किया गया है ।[4] ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १२५ वें सूक्त की दृष्टा 'वाक्' नाम की विदुषी है, जो कि अम्भृण ऋषि की पुत्री है और उसने स्वयं अपनी (वाक् की) स्तुति परमात्मा रूप में की है । इससे वाक् के अलौकिक रूप की झलक प्राप्त होती है । यद्यपि वैदिक ऋषि ने इसके लौकिक रूप की भी उपेक्षा नहीं की है । वाक्-निष्णात व्यक्ति उनकी दृष्टि में भी महिमा मण्डित होता ही है । कारण, वाक् को तो कोई-कोई देखते हुए भी नहीं देख पाता, कोई-कोई सुनते हुए भी नहीं सुन पाता । कुछ ही लोग निकटता से समझ व जान जाते हैं और तब यह वाक् उनके समक्ष अपने रहस्य वैसे ही खोलती है जैसे कोई सुसज्जित, उत्कण्ठित पत्नी अपने आप को पति के सम्मुख अनावृत कर लेती है ।[5] विशुद्ध वाक् व्यवहार सर्वदा कल्याणकारी होता है—

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो, यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ।।'[६]

अत: सत्तू को चलनी से शुद्ध करने के समान ही वाणी का भी विशुद्ध प्रयोग करना चाहिए । वाक् के सम्बन्ध में वैदिक ऋषि का विवेचन उसके आधिदैविक स्वरूप को अधिक उजागर करता हुआ प्रतीत है, जबकि उपनिषदें इसके आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को अधिक स्पष्ट करती है । वैदिक ऋषि के अन्तस् में जैसी भावना उत्पन्न हुई, बिना किसी परीक्षण अथवा युक्ति का प्रयोग किये वह शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त हो गई । उसमें बनावट नहीं । परीक्षण का भाव भी उनके मन में ही नहीं आता । मात्र जीवन से परे ही जानने की जिज्ञासा दिखलाई पड़ती है । सत्य की ओर उनका गमन प्रातिभ ज्ञान के द्वारा अधिक हुआ दृष्टिगोचर होता है । उपनिषद् काल का ऋषि जागतिक समस्याओं से दूर केवल सत्य की खोज में रत है । उसकी विचार परम्परा में तारतम्य का सौष्ठव स्पष्ट देखा जा सकता है । उनकी रहस्यानुभूति भी तर्कसमन्वित है । यदि निरुक्त वाक् शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में करता है कि- **'वाक् कस्माद्, वचेः'**[7] - अर्थात् वाक् वह है, जो बोली जाय, तो बृहदारण्यक उपनिषद् जिस किसी भी शब्द को

वाक् कहता है—**'यः कश्च शब्दो वागेव सा'**[8] तैत्तिरीय उपनिषद् इसके भौतिक स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए **'वाक् सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्'**[9] कह कर वाक् और जिह्वा के सम्बन्ध का स्पष्ट संकेत करता है । इससे जिह्वा-व्यापार के पीछे छिपी हुई प्राणशक्ति और मानसिक शक्ति का भी संकेत प्राप्त होता है, जिसे कि परवर्ती उपनिषदों और तान्त्रिक ग्रन्थों में अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् बीज, बिन्दु, नाद आदि के रूप में तथा व्याकरण दर्शन में स्फोट के रूप में अभिव्यक्त किया गया ।

ज्ञान का एकमात्र अधिष्ठान वाक् है- **'सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्'**[10] । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान वाक् से ही होता है । इतिहास, पुराण आदि सभी विद्याएँ वाक् से ही जानी जाती हैं । उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान सभी कुछ वाक् का ही विषय है । हम जो कुछ खाते, पीते व करते हैं, उसका ज्ञान भी वाक् से ही होता है । यह लोक, परलोक और समस्त भूत वाक् से ही जाने जाते हैं ।[11] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'यदि वाक् की सृष्टि न होती, तो धर्म अधर्म का ज्ञान न होता, सच और झूठ का पता न चलता । कौन साधु है और कौन असाधु । कौन सहृदय है और कौन अनुभूतिशून्य इसकी जानकारी भी न होती । वाक् ही इन सबको सूचित करती है, इसलिये वाक् की उपासना करो ।'[12] याज्ञवल्क्य से जब जनक ने पूछा कि 'जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा की चाँदनी भी नहीं रहती, जब अग्नि भी शान्त रहती है, उस समय मनुष्य को प्रकाश देने वाली कौन सी वस्तु है ?'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'वह वाक् है । वाक् ही पुरुष का प्रकाशक है ।'[13]

कुछ और गहराई में उतरने पर वाक् और विचार के सम्बन्ध की अभिव्यञ्जना भी उपनिषदों में प्राप्त होती है । जहाँ एक ओर पतञ्जलि **'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे'** कह कर और कालिदास **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** कहकर वाक् और विचार के नित्य सम्बन्ध की उद्घोषणा करते हैं, वहीं उपनिषदों में इस विषय पर दोनों ही मत दृष्टिगोचर होते हैं । प्रथम तो विचार अथवा ज्ञान वाक् की सहायता के बिना भी सम्भव है । यह ज्ञान

की वह कोटि है जो वाक् से परे है। यथा—**'नैव वाचा न मनसा'**[14] अर्थात् वह न तो वाणी से न मन से जाना जा सकता है। स्पष्ट है कि ज्ञान की गहनतम अवस्था तक वाणी की पहुँच नहीं है। और भी—

'वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव वाक्।'[15] अर्थात् वाक् विचार से लघु (ह्रस्व) अथवा हल्की है। विचार असीम सा है, जबकि वाक् सीमित सी है।

द्वितीय मत वाक् और विचार के घनिष्ठ सम्बन्ध का भी उल्लेख करता है। उपनिषदों के अन्तर्गत सृष्टिक्रम में मन और वाक् के, विचार और वाणी के परस्पर संक्रमण का वर्णन प्राप्त होता है—

'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्'[16]

अन्यत्र वाक् को धेनु, प्राण को ऋषभ (साँड़) तथा मन (विचार) को उसका वत्स (बछड़ा) बतलाया गया है।[17] इसी घनिष्ठता का प्रतिफल ऐतरेय उपनिषद् के में प्रारम्भ इस रूप में दृष्टिगोचर हुआ-

'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।'

इस प्रकार उपनिषदें वाक् और विचार के समबन्ध को, उनके असम्बन्ध को और वाक् के मूल में स्थित मानसिक क्रिया की विशद व्याख्या प्रस्तुत करती हैं।

अभिव्यक्ति का साधन वाक् स्वयं एक प्रकार की अभिव्यक्ति है और यही अभिव्यक्ति जब प्रभासमन्वित हो अभिव्यक्त होती है, तब उसे कला का स्थान प्राप्त होता है। गहन संवेदना से अभिभूत हो वाक् जब पर के अन्तस् में भी माधुर्य व सत्त्वोद्रेक को जगाकर आह्लादकता से परिपूर्ण करने में समर्थ हो जाती है, तब उसका कलात्मक सौन्दर्य हिलोरें लेने लगता है, जिसका अन्तस् रस ही रस से आप्लावित होता है। यही वाक् के कलापक्ष की अभिव्यञ्जना है। वाक् की इसी सौन्दर्य-मीमांसा का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में कुछ इस प्रकार किया गया है-

'वाच ऋग् रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उदगीथो रसः'[१८]।

अर्थात् वाणी का रस-सार ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ (ओङ्कार) है। यहीं पर 'वाणी' को ओषधियों के

रस से पुष्ट होने वाले मनुष्य शरीर का रस-प्रधान अङ्ग कहा गया है। इसे ही ऋक्, छन्द, श्लोक अथवा काव्य के रूप में जाना जाता है। वाणी के रस की चरम परिणति सबसे अन्तिम रस उद्गीथ रूप ओङ्कार है और वह समस्त रसों में सर्वश्रेष्ठ रस है। इस प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म परमात्मा का धाम है, आश्रम है। यह विचार करने पर कि कौन ऋचा है, कौन साम है व कौन उद्गीथ है- यह स्पष्ट होता है कि वाणी से ऋचा है, प्राण साम है, ऊँ यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और है प्राण साम है—ये दो न होकर एक ही युग्म है, जो एक दूसरे के पूरक हैं और इसे ही 'ऊँ' रूप अक्षर से संयुक्त किया जाता है। साम गान में न केवल स्वरों का सामञ्जस्य होता है, अपितु बाह्य नाद सौन्दर्य का भीतर की प्राण शक्ति के साथ ऐक्य स्थापित किया जाता है। यथा गीत कविता का श्रृङ्गार है और गीत में भी कविता के बाह्य एवं आभ्यान्तरिक गुणों का स्वाभाविक समन्वय स्थापित होता है। यह गीतों (साम) का परिपाक ही उद्गीथ है, जो इसके आह्लादक स्वरूप का द्योतक है। आह्लादकता में ही माधुर्य तथा माधुर्य में ही रस है। रस ही आनन्द है, जहाँ वाक् की विश्रान्ति है, पूर्णकाम्यता है, कृतकृत्यता है। संक्षेप में वाक् का यही भौतिक स्वरूप है, जो कि उपनिषदों में वर्णित है।

अधिदैवत स्वरूप के दर्शन हमें बृहदारण्यक और छान्दोग्य आदि उपनिषदों में प्राप्त होते हैं, जहाँ इसकी व्याख्या दैवी रूप में की गई है- वह दैवी वाक् है, जिससे पुरुष जो भी बोलता है, वह वही हो जाता है—**'सा वै देवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति।'**[19] इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया हैं कि- वाक् ही यज्ञ का होता है, यह जो वाक् है, वही यह अग्नि है। वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है—**'वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः।'**[20] छान्दोग्य उपनिषद् वाक् को ब्रह्मा का पाद बतलाते हुए कहता है कि - वाक् ही ब्रह्मा का चौथा पाद है, वह अग्नि रूप ज्योति से दीप्ति होता है और तपता है—**'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। सोऽग्निना ज्योतिषाभाति च तपति च।'**[21] इससे और अधिक

गहराई में उतरकर वाक् के उस स्वरूप के दर्शन होते हैं, जहाँ वह रहस्यात्मक हो जाती है । वहाँ वाक् न तो साधारण बोलचाल की वस्तु होती है और न ज्ञान का असाधारण साधन । वह इन दोनों से परे सूक्ष्म, नित्य एवम् अनन्त है । समग्र विश्व इसी वाक् से ही विकसित हुआ है । यथा-

'स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत'[22] ।

वाक् से सृष्टि की पोषक श्रुतियाँ भी हैं—**'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे'** **अपि च** - **'अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा'**[23] आदि । जगद्गुरु शंकराचार्य भी इस मत का अनुमोदन करते हुए कहते हैं कि 'हम सभी इस बात को जानते हैं कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसके वाचक शब्द उसके मन में पहले आते हैं, बाद में वह उस काम को करता है । इसी प्रकार सृष्टि रचना के पूर्व प्रजापति के मन में भी वैदिक शब्दों का आभास हुआ, पश्चात् उन शब्दों के अनुरूप वस्तुओं की उन्होंने रचना की ।[24]

वाक् के इस रहस्य स्वरूप का निदर्शक प्रणव है । प्रणव (ऊँकार) ही वाक् का मूल तत्त्व है । वाक् का सम्पूर्ण वैभव प्रणव का विलास है । माण्डूक्य उपनिषद् कहता है कि -

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं...... भूतं भवद्भविष्यदिति ।

सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।'[२५]

यह ओऽम् अक्षर है । यह सब कुछ भूत, भविष्य और वर्तमान-ओङ्कार ही है और जो इन तीनों कालों से परे है, वह भी ओऽम् ही है । इस प्रकार बृहदारण्यक की यह स्पष्ट उद्घोषणा- **'वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म'** अर्थात् वाक् ही परम ब्रह्म है - सर्वथा समीचीन है, जिसे उपनिषद् कालीन ऋषियों तथा परवर्ती आचार्यों ने भी उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में जहाँ जीव जगत् सम्बन्धी विचार का प्राचुर्य है, वही वाक् तत्त्व पर भी सम्यक् विचार किया गया है । यद्यपि यह विचार वाक् का मुख्य विषय न होने के

कारण एक स्थान पर उपलब्ध नहीं होता है, न ही कोई क्रमबद्ध गवेषणा ही प्राप्त होती है । फिर भी यत्र-तत्र प्रस्फुटित वाक् - सम्बन्धी विचार इसकी साङ्गोपाङ्ग व्याख्या करने में सक्षम है । वाक् केवल जिह्वा-व्यापार न होकर अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है । यह दैवी है । आज विज्ञान जिस ध्वनि (साउण्ड) के व्यापक रहस्यों की खोज में लगा है, उसका आज से बहुत पहले हमारे ऋषियों ने रहस्य खोल कर रख दिया है । आवश्यकता है तो उसे पूर्ण रूप में समझने व व्यवहार में प्रयुक्त करने की । यद्यपि इसकी महत्ता का जैसा प्रतिपादन हमारे ऋषियों ने किया है, वह आज भी वैसा ही अक्षुण्ण है । परवर्ती कवि भी वाक् की इसी महत्ता का आकलन करते हुए उसकी उपासना एवम् आराधना करते हुए देखे जाते हैं-

'विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्'[26] ।

सर्वत्र स्तुति व आराधना का केन्द्रबिन्दु वागर्थप्रतिपत्ति ही दृष्टिगोचर होता है । आनन्दमयी, ब्रह्मस्वरूपा वाक् की उपासना सर्वथा मङ्गल एवं कल्याणकारी है ।



सन्दर्भ-सूची

१. ऋग्वेद ८/१००/१० ।

२. वहीं ८/१००/११ ।

३. ऋक् संहिता १/१६४/४५

४. निरुक्त १३/९ द्रष्टव्य

५. ऋक् संहिता १०/७१/४

६. ऋक् संहिता १०/७१/२

७. निरुक्त २/२२/२

८. बृहदारण्यक उपनिषद् १/५/३

९. तैत्तिरीय उपनिषद् १/३/५

१०. बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/११

११. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/२

१२. छान्दोग्य उपनिषद् ७/२/१

१३. बृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/५

१४. कठोपनिषद् २/३/१२

१५. शतपथ ब्राह्मण १/३/६

१६. बृहदारण्यकोपनिषद् १/२/४

१७. बृहदारण्यकोपनिषद् ५/८/१

१८. छान्दोग्य उपनिषद् १/१/२

१९. बृहदारण्यकोपनिषद् १/५/१८

२०. बृहदारण्यकोपनिषद् ३/१/३

२१. छान्दोग्य उपनिषद् ३/१८/३

२२. बृहदारण्यकोपनिषद् १/२/५

२३. ऋग्वेद १०/१२५/८ द्रष्टव्य

२४. वेदान्त सूत्र १/३/८/२८ शाङ्करभाष्य

२५. माण्डूक्योपनिषद्

२६. भवभूति १/१

पुराण-धर्मशास्त्रसुधा

स्मृतियाँ और मानवाधिकार

मानवाधिकारों की भूमिका निश्चित रूप से प्राचीन भारतीय पैतृक सम्पदा को निरन्तर प्रवहणशील बनाये रखने की दिशा में उठाया गया एक सशक्त एवं ठोस कदम है । मानवाधिकार मानव मात्र को प्रकृति द्वारा प्रदत्त वे अधिकार हैं, जिनका प्रयोग वह सृष्टि-रचना के साथ ही करने लगा था और जो मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ निरन्तर गतिशील तथा विकसित होते रहे हैं । प्रारम्भिक चरण में जीवन, स्वतन्त्रता एवं रोटी, कपड़ा और मकान तक सीमित मानवाधिकार आज शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्मान, मानव- गरिमा और जीवनोपयोगी आवश्यक दशाओं के साथ विधि-शासन तक विस्तारित होकर विश्व के प्राय: सभी देशों की विधि संहिता का आवश्यक अङ्ग बन चुका है ।

१९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद मानवाधिकारों को न केवल इसके चार्टर में ही शामिल किया गया, अपितु पृथक् रूप से १० दिसम्बर, १९४८ को कुल ३० अनुच्छेदों के साथ मानवाधिकार-घोषणा-पत्र भी जारी किया गया, इसमें उन सभी मानवाधिकारों को शामिल किया गया, जो प्रत्येक मानव जीवन के लिए न केवल आवश्यक हैं, अपितु अपरिहार्य भी हैं । तत्कालीन संयुक्त राष्ट्र संघ के ४८ देशों ने इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये, जिसमें भारत भी शामिल था । आज विश्व के १३७ देश इस घोषणा पत्र के उपबन्धों को अपने राष्ट्रीय विधि या संविधान में शामिल कर चुके हैं ।

मूल मानवाधिकारों के स्रोत माने जाने वाले इन अधिकारों में भारतीय संविधान के भाग ३ में समानता (अनुच्छेद-१४, १५, १६) अस्पृश्यता का अन्त (अनुच्छेद-१७) स्वतन्त्रता (अनुच्छेद-१९) प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता (अनुच्छेद-२१) अवैध गिरफ्तारी के विरुद्ध

अधिकार (अनुच्छेद-२२) शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद-२३,२४) धार्मिक स्वतन्त्रता (अनुच्छेद-२५,२८) अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण (अनुच्छेद-२९,३०) तथा मूल अधिकारों के प्रवर्तन का अधिकार (अनुच्छेद-३२ एवं २२६) इत्यादि शामिल है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार घोषणा-पत्र के ३० अनुच्छेदों में प्राकृतिक अधिकार (अनुच्छेद-१) जीवन, स्वतन्त्रता और समानता (अनुच्छेद-३, १५) वयस्क विवाह (अनुच्छेद-१६) धार्मिक स्वतन्त्रता (अनुच्छेद- १८,१९), आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार, व्यवसाय और समान कार्य के लिए समान वेतन (अनुच्छेद २२,२६) सामाजिक कर्त्तव्य (अनुच्छेद -२९) इत्यादि को शामिल किया गया है।

ध्यातव्य है कि अधिकार का कर्त्तव्य से मूलत: बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत: कर्त्तव्यों की चर्चा किए बिना अधिकारों को हृदयङ्गम करना सम्भव ही नहीं होगा। वस्तुत: अधिकार और कर्त्तव्य - ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं और इनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जो एक दृष्टि से अधिकार है, वही दूसरे सम्बन्ध में कर्त्तव्य बन जाता है। जहाँ अधिकार है, वहाँ कर्त्तव्य भी हैं। मेरे शोध-पत्र की विषय-स्वरूप दोनों स्मृतियाँ मानव-जीवन को धर्ममय कर्त्तव्यनिष्ठता की शिक्षा देकर उन समस्त मानवाधिकारों को सहज उपलब्ध करा देती हैं, जिनके लिए आज विश्व में संविधान-सृजन किया जा रहा है। संविधान (सम्यक् विधि) संरचना यद्यपि मानव जीवन एवं समाज को स्थिरता प्रदान कराने हेतु ही होती है, किन्तु इस व्यवस्था के लिए प्राचीन भारतीय सम्पदा की अमूल्य निधि स्वरूप हमारी स्मृतियाँ जिन्हें **'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'**[1] - कहकर धर्मशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, ऐसी शाश्वत, चिरन्तन व अकाट्य नीतियाँ निर्धारित करती हैं, जिस पर चलकर मानव समाज अक्षुण्णता प्राप्त कर सकता है। कारण, स्मृतियाँ कर्त्तव्य की शिक्षा देती हैं, जिसकी पूर्णत: अधिकार के रूप में ही फलीभूत होती है। अधिकार यदि फल है, तो उसका बीज कर्त्तव्य है जो बीज का संरक्षण भलीभाँति नहीं करता, फल उसके हाथ नहीं लगता। कर्त्तव्य के प्रति सच्ची निष्ठा रखने वालों को अधिकार के प्रति उनकी दृष्टि व कामना न होने पर भी

वह उन्हें प्राप्त हो जाता है । देवदत्त के द्वारा तीर मारकर घायल हुए हंस की प्राणरक्षा करना कर्त्तव्य है - ऐसा विचार कर गौतम द्वारा की गयी प्राणरक्षा से उसे हंस पर अधिकार भी प्राप्त हुआ, जबकि हंस की उसने कामना नहीं की थी ।

एक ही कृत्य अधिकार की दृष्टि से जहाँ संविधान सर्जना करता है, वहीं कर्त्तव्य की दृष्टि से वह धर्म होता है । ऐसा धर्म जो धारण करने वाले को धारण (स्थिर) करता है **'धरति विश्वमिति धर्मः'** -जीवन जीने की कला सिखाता है। अर्जुन के लिए युद्ध करना जहाँ एक दृष्टि से क्षत्रियोचित धर्म कें रूप में कर्त्तव्य की पूर्ति करता है, वही दूसरी ओर उसे राज्याधिकार प्राप्त कराने का मार्ग प्रशस्त करता है । ध्यातव्य है कि जिस कर्म को अर्जुन अधिकार की दृष्टि से गर्हित समझकर युद्ध से विरत होकर भिक्षान्न पर जीवित रह कर भी सन्तुष्ट हो जाना चाहता है, वही कर्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत श्रीमद्भगवद्गीता नामक प्रमुख स्मृति में कर्त्तव्य की दृष्टि से अर्जुन के द्वारा देखे जाने पर धर्म बन गया, जिसे न केवल अर्जुन ने धारण किया, अपितु उसी धर्म ने अर्जुन को उस स्थिति पर पहुँचाया, जहाँ सभी अपने-अपने धर्म का पालन करने की शिक्षा अर्जुन से लेते हैं ।

संस्कृत में इस धर्म का अर्थ जगत् के नैतिक विधान से लिया गया है। यही कारण है कि **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** -के अनुसार इस जगत् को गतिशील बनाये रखने के हेतु भूत इस शरीर को ही धर्म का प्रमुख साधन माना गया है । कारण धर्म का पालन शरीरधारी ही कर सकता है । मनु एवं याज्ञवल्क्य दोनों ही ऋषियों ने इसी धर्म का अपनी-अपनी स्मृतियों में श्रुति, युक्ति और अनुभव, इन तीनों की निकष पर कस कर मानव मात्र को स्थिर करने की ऐसी नीति का निर्धारण किया है, जिस पर चल कर मनुष्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की पूर्ति करते हुए अन्तिम मोक्ष नामक चरम पुरुषार्थ की भी सिद्धि कर सकता है । जबकि इसी का दूसरा पक्ष, जो कि अधिकार से सम्बद्ध है, मानव मस्तिष्क को सिर्फ अधिकार चिन्तन से जोड़ता हुआ उसे कर्त्तव्य विमुख अधिक करता हुआ प्रतीत होता है । आज जितने ही

अधिक संविधान बनते जा रहे हैं । अधिकारों की जितनी अधिक चर्चा हो रही है, उतना ही जीवन असुरक्षित होता चला जा रहा है । कारण, आज का मनुष्य अधिकारों के लिए संघर्ष करने को ही अपना कर्त्तव्य मानने लगा है । मनु अथवा याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित कर्त्तव्यों का पालन करना ही चाहिए ऐसा वह नहीं मानता । आइये, उस व्यवस्था पर दृष्टिपात करें, जो संविधान और मानवाधिकारों की जटिल परिधि से दूर किन्तु प्रत्येक मानव को उसका अधिकार दिलाने में सहज ही सक्षम है । कारण, इस व्यवस्था में मनुष्य का अन्त:करण निगृहीत होता है, न कि उसका पार्थिव शरीर। स्मृति प्रतिपादित मानव धर्म उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार को सूक्ष्माति- सूक्ष्म रूप से निगृहीत व परिमार्जित कर स्थिरता प्रदान करता है ।

मुख्यतया आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त - इन तीन भागों में विभक्त स्मृतियों में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सामान्य धर्म, विशेष धर्म, गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक के संस्कार, दिनचर्या, पञ्चमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव, भोजनविधि, शयनविधि, स्वाध्याय, यज्ञ-यागादि, इष्टापूर्त धर्म, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, शुद्धि तत्त्व, पाप-पुण्य, तीर्थ, व्रत, दान, प्रतिष्ठा, श्राद्ध, सदाचार-शौचाचार, आशौच (जननाशौच, मरणाशौच) भक्ष्याभक्ष्य विचार, आपद्धर्म, दाय विभाग (सम्पत्ति का बँटवारा), स्त्रीधन, पुत्रों के भेद, दत्तक पुत्रमीमांसा और राजधर्म तथा मोक्षधर्म एवं अध्यात्म ज्ञान इत्यादि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है ।

स्मृतियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़े समस्त प्रकार के कर्मो का यथावसर विधि और निषेध दोनों ही प्रणालियों से कर्त्तव्य बोध कराती हैं । इसका प्रत्येक श्लोक किसी न किसी कर्त्तव्य के प्रति सचेत करते हुए मानव के लिए उसका या तो विधान करता है अथवा निषेध । इस प्रकार मानवधर्म का स्वरूपत: बोध कराकर कर्त्तव्य पथ पर नियुक्त करते हुए समस्त अधिकारों को अनायास ही उपलब्ध कराने का ये स्मृतियाँ मन्त्र फूँकती हैं । सभी आश्रमों एवं सभी वर्णो के सामान्य धर्म का निर्देश करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य जी जहाँ धर्म का प्रतिपादन इस रूप में करते हैं—

'अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ।।'[2]

वहीं भगवान मनु धर्म का स्वरूप कुछ इसी प्रकार अपने शब्दों में लक्षित करते हैं—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।'[3]

अत्यन्त लघुकाय प्रतीत होने वाले ये श्लोक मानव-धर्म का साङ्गोपाङ्ग निरूपण अति सरलता से प्रस्तुत करते हैं । धर्म के ये दस लक्षण ही मानों सम्पूर्ण स्मृतियों का सार तत्त्व है । जिस प्रकार वृक्ष का प्रत्येक भाग, प्रत्येक पत्ता बीज से जुड़ा होता है, उसी प्रकार इन स्मृतियों का समग्र विवेचन इन्हीं दसलक्षणों से साक्षात् अथवा परम्परया सम्बद्ध है । इतने विस्तृत कलेवर को प्रस्तुत करना असम्भव तो नहीं, किन्तु दुरूह अवश्य है । सार रूप में गृहीत इन्हीं श्लोको के अन्तर्गत समग्र स्मृतियों इनके प्रत्येक लक्षण के सम्बन्ध में दिये गये इन्हीं के निर्देशों की सूक्ष्म झाँकी प्रस्तुत है—

धृति–भगवान् श्रीकृष्ण की विभूतियों में परिगणित इस धृति का लक्षण कुछ इस प्रकार किया गया है—

'जिह्वोपस्थजयो धृतिः ।'

अर्थात् जीभ एवं जननेन्द्रिय पर जो संयम है, वही धृति कहलाता है और जो इसे धारण करता है, वही धीर है । और भी—

'विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।'

अर्थात् मन में विकार उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता, वही धीर है । यद्यपि इस धृति की साधना अत्यन्त कठिन है, किन्तु निरन्तर अभ्यास व मानापमान में सहिष्णुता धारण करने का चिन्तन करने से यह सुलभ होती है । यथा—

'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ।।'[4]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार—

'कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।'[5]

क्षमा–भगवान् श्रीकृष्ण की द्वितीय विभूतिस्वरूप क्षमा वस्तुतः **'क्षमा वीरस्य भूषणम्'** ... के अनुसार वीर का आभूषण है । शक्ति होने पर भी जो मनुष्य अपमानित व तिरस्कृत होते हुए भी स्वयं पर नियंत्रण रखते हुए संतुलित व्यवहार करते रहते हैं, यथार्थ में वे ही क्षमावान् हैं । भगवान् मनु के अनुसार क्षमा करने वाला मनुष्य अपमानित होने पर सूखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक इस लोक में विचरण करता है, जबकि अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है । यथा—

'सुखं ह्यवगतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।

सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ।।'[6]

क्षमा को राजा के मुख्य कर्त्तव्यों में परिगणित करते हुए याज्ञवल्क्य जी का स्पष्ट निर्देश है कि—

'ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु ।

स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ।।'[7]

राजा ब्राह्मणों में क्षमाबुद्धि रखे, मित्रवर्ग के साथ मित्रता का व्यवहार करे- कुटिलता न करें । शुत्रओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं प्रजा के प्रति पिता के समान (दयावान् एवं हितकारी, क्षमाशील) होना चाहिए ।

दम–'इन्द्रियाणां जयो लोके दम इत्यभिधीयते ।

नादान्तस्य क्रियाः काश्चिद् भवन्तीह द्विजोत्तमाः ।।'

अर्थात् इस लोक में इन्द्रियों पर प्राप्त की हुई विजय को 'दम' कहते हैं। हे उत्तम ब्राह्मणों ! जो मनुष्य दमयुक्त नहीं है, उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होती । इन्द्रियों के द्वारा यथेच्छ आचरण धर्मशास्त्रों के अनुसार कदापि क्षम्य नहीं हैं । यथा मनुस्मृति में द्रष्टव्य हैं—

'इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छति मानवः ।

संनियम्य तु तान्येव सिद्धिं समधिगच्छति ।।'[8]

अर्थात् इन्द्रियों के विशेष सङ्ग से मनुष्य दोष को प्राप्त होता है, परन्तु इन्द्रियों को वश में रखनें से वही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है । इस सिद्धि को वही मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो—

'श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ।।'[9]

(प्रशंसा अथवा निन्दा की बात को) सुनकर, (चिकने एवं कोमल रेशमी वस्त्रादि तथा रुखे कम्बलादि) छूकर, (सुन्दर या कुरूप को) देखकर, (स्वादयुक्त या स्वादहीन वस्तु को) खाकर और (सुगन्धित तथा दुर्गन्धित वस्तु को) सूँघ कर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, उसे 'जितेन्द्रिय' जानना चाहिए । इस प्रकार इन्द्रियों का यह निग्रह मन पर पूर्णतया आधारित है । कारण केवल बाह्य इन्द्रियों को बलात् रोकने से मन ही मन विषयों का स्मरण करता रहता है, जो कि मिथ्याचार है । अतः यह नियमन मानसिक होना चाहिए ।

अस्तेय–'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वापकर्षणम् ।

सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ।।'[10]

सुप्त, पागल और असतर्क मनुष्य से विविध उपायों द्वारा छल करके किसी भी चीज को ले लेना स्तेय (चोरी) है, जबकि श्रुतियाँ— **'मागृधः कस्य स्विद्धनम्'**[11] कह कर किसी के द्रव्य की लालसा न करने का उपदेश देती हैं । मनुस्मृति में तो अस्वामिक (लावारिस) धन के प्रति भी लोभवश झूठ बोलकर ग्रहण करने की इच्छा वाले के प्रति भी दण्ड का विधान किया है । यथा—

'अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।

वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति[12] **।।'**

याज्ञवल्क्य स्मृति में व्यवहाराध्याय के अन्तर्गत 'स्तेय-प्रकरण' में तो कहा गया है कि दूसरे के धन और घर के विषय में बातें पूछने

वाले को, गुप्त निवास करने वाले को, आय न होने पर भी अधिक व्यय करने वाले को और खोई वस्तु को बेचने वाले को भी दण्ड देना चाहिए—

'परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिणः ।

निराया व्ययवन्तश्च विनष्टः द्रव्यविक्रयाः ।।'[13]

शौच अथवा शुचिता (पवित्रता)–

मुख्यतया शुचिता दो प्रकार की होती है - आन्तरिक और बाह्य । मिट्टी तथा जल से जो स्वच्छता होती है, वह शारीरिक अथवा बाह्य शुचिता है । यथा—

'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।।'[14]

यद्यपि ये सभी उपाय मनुष्य की भिन्न-भिन्न प्रकार की शुचिता अथवा पवित्रता के साधक हैं, किन्तु महाराज मनु के अनुसार सर्वश्रेष्ठ शौच तो अर्थशौच ही है—

'सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ।।'[15]

अर्थात् न्याय से प्राप्त किये हुए धन की शुद्धि श्रेष्ठ मानी जाती है । जो केवल मिट्टी, जल आदि से शुद्ध है (धन से नहीं), वह शुद्ध नहीं है । कारण, वृत्ति की शुद्धि मनुष्य में देवी भावनाओं की वृद्धि एवं आसुरी भावनाओं का विनाश करती है । परिणामस्वरूप मन धीरे-धीरे शुद्ध होने लगता है । याज्ञवल्क्यस्मृति में तो प्रायश्चित्त अध्याय के अन्तर्गत 'आशौच प्रकरण' में समस्त प्रकार के शौच का विस्तृत विवेचन है । इसके अतिरिक्त आचाराध्याय-ब्रह्मचारि प्रकरण में भी शौच-नियम[16] प्रतिपादित है ।

इन्द्रिय-निग्रह–इन्द्रिय-निग्रह मीमांसा धर्मशास्त्रों का प्रमुख विवेच्य रहा है और आवश्यक भी है । कारण, यदि एक भी इन्द्रिय विषयासक्त रहती है तो उससे उस मनुष्य की बुद्धि वैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे

चमड़े के बर्तन (मशक आदि) के एक ही छिद्र से सब पानी बहकर नष्ट हो जाता है । यथा—

'इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।

तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ।।'[17]

और इन्द्रिय-निग्रह आदि से मोक्ष लाभ भी किया जा सकता है। यह निग्रह मनु के अनुसार थोड़ा भोजन और एकान्त वास के द्वारा किया जाना चाहिए—

'अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च ।

ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ।।'[18]

याज्ञवल्क्य स्मृति में तो इन्द्रियों पर विजय कर शरीरगत समस्त साधनाओं को पूरा करते हुए मनुष्य के ब्रह्मलोक प्राप्ति की चर्चा है—

'अनेन विधिना देहं सादयन्विजितेन्द्रियः ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः ।।'[19]

धी अथवा विज्ञान–

'मोक्षो विषयवैरस्यं, बन्धो वैषयिको रसः ।

एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु[20] **।।'**

अर्थात् विषयों में से रस का चला जाना ही मोक्ष है और रस का होना ही बन्धन है । विज्ञान तो इतना ही है फिर आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें। तात्पर्य यह है कि संसार में विषय रूपी विषों से बचे रहना चाहिए । कारण, विष तो खाने पर मनुष्य का अहित करता है, जबकि विषयों का तो केवल चिन्तन मात्र ही पतन के लिये पर्याप्त है। यथा—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।'[21]

यही ज्ञान 'विज्ञान' है और इसको ग्रहण करने वाली बुद्धि ही 'धी' है, जिसे भगवान् की विभूतियों में मेधा कह सकते हैं ।

विद्या--

'नास्ति विद्या समं चक्षुः ।' - अर्थात् जिन विद्याओं के कारण चतुर बुद्धि वाला मनुष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष- इन चारों पुरुषार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वे ही विद्याएँ कहलाती हैं । यथा—

'विद्याद्यदाभिर्निपुणं चतुर्वर्गमुदारधीः ।

विद्यात् तदासां विद्यात्वं विदिर्ज्ञाने निरुच्यते ।।'[22]

मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में इस विद्या-प्राप्ति के लिए उपनयन संस्कार से लेकर ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य कर्म व निषिद्ध कर्मों की चर्चा करते हुए गुरु के समीप रहकर इसे भली-भाँति निष्ठापूर्वक ग्रहण करने के उपरान्त अन्त में गुरुदक्षिणा देने तक का बृहद् कलेवर प्राप्त होता है[23] । इस मोक्षदायिनी - **(सा विद्या या विमुक्तये)** विद्या का लाभ प्राप्त करके मानव पग-पग पर अपने कर्त्तव्य का भली-भाँति निश्चय कर सकता है और जीवन में कभी पथभ्रष्ट नहीं हो सकता है ।

सत्य-

'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।'[24]

मनु प्रतिपादित यह 'सत्य' धर्मवेत्ताओं के द्वारा परम धर्म रूप में स्वीकार किया गया है । यथा—**'आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।'** इसीलिए अन्यत्र भी मनु सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रता में सर्वदा अनुराग (श्रद्धा) रखने की शिक्षा देते हुए दिखलाई पड़ते हैं—

'सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।'[25]

इसी सत्यनिष्ठा को याज्ञवल्क्य स्मृति में हम इन शब्दों में पाते हैं—

'न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वेदत् ।

नाहितं नानृतं चैव न स्तेनः स्यान्नवार्धुषी ।।'[26]

वस्तुत: **'यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'** अर्थात् जो भूत प्राणियों के लिए कल्याणकारी है, वही सत्य है। अत: सदैव **'सत्यपूतां वदेद्वाचम्'**[२७] अर्थात् सत्य से पवित्र वचन बोलना चाहिए।

अक्रोध–

'कामात्क्रोधोऽभिजायते'— अर्थात् क्रोध की उत्पत्ति कामनाओं के सफल न होने पर होती है। अत: धर्म के अन्यान्य लक्षणों से उपेत होने पर अन्तिम अक्रोध नामक लक्षण का उदय स्वयं ही प्रकट होने लगता है। ब्रह्मचारी के त्याज्य कर्मों को बताते हुए मनु ने कहा है कि—

'वर्जयेन्मधुमासं च ---------------------- ।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ।।'[28]

अन्यत्र भी सबमें वैरभाव का त्याग करते हुए क्रोध तथा व्यर्थ वचन का निषेध करते हुए मनु कहते हैं कि—

'क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येवेदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ।।'[29]

क्रोध से युक्त भी किसी के ऊपर स्वयं क्रोध न करे। किसी के अपनी निन्दा करने पर भी उससे मधुर बात करे और सप्त द्वारों से निर्गत विनाशशील (व्यर्थ) वाणी न बोले। कुछ इसी प्रकार याज्ञवल्क्य जी भी कहते हैं कि—

'यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।

अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ।।'[30]

जो काँटा चुभाता हो और जो चन्दन का लेप करता हो, उन दोनों पर क्रमश: न क्रुद्ध होवे, न प्रसन्न होवे, अपितु दोनों पर ही समान दृष्टिकोण रखे।

धर्म के उपर्युक्त लक्षणों को भली-भाँति आत्मसात कर लेने पर किसी भी व्यक्ति को कर्त्तव्य व्यामोह नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़े कर्मों का विधान स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हैं,

ताकि समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अवसर व अधिकार प्राप्त हो सके। कहीं किसी के अधिकार का हनन न हो सके। कोई अधिकार-च्युत होकर दु:ख अथवा कष्ट न पाये।

स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास, जीविका, प्रशासन, न्याय, स्वतन्त्रता, अवैध गिरफ्तारी, शोषण एवं धार्मिक स्वतन्त्रता जैसे समस्त मानवाधिकार स्मृति-प्रतिपादित प्रणीत पथ पर चलकर बिना किसी आपसी टकराहट के प्राप्त किये जा सकते हैं। आज मानव इनके द्वारा बताये मार्ग पर न चलने के कारण ही विनाश के मुख में गिरता जा रहा है। जहाँ स्मृतियाँ कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करके व्यक्ति में उदात्त भावनाओं को उदित होने का अवसर प्रदान करती हैं, वही आज का संविधान मानवाधिकारों के नाम पर व्यक्ति का सम्पूर्ण ध्यान कर्त्तव्य से हटाकर सिर्फ अधिकार मात्र में केन्द्रित करके कलह, झगड़ा और विनाश जैसे गर्हित मार्ग पर अग्रसरित करने का काम कर रहा है। धर्मशास्त्र सामर्थ्य होने पर भी उसका प्रयोग न करने की शिक्षा देकर शक्ति सञ्चय कराकर तेजस्वी बनना सिखलाते हैं, जबकि आज का मानव सामर्थ्य से अधिक प्रदर्शन करके शक्ति एवं सामर्थ्य का अपव्यय कर रहा है। जो युवाशक्ति दिग्भ्रमित सी होकर अपने लक्ष्य और पथ को ढूँढने में व्यामोहित सी दिखाई पड़ती है और गलत कर्म में प्रवृत्त होकर गलत-गलत तरीकों से अधिकार प्राप्ति की चेष्टा करती है। वही यदि उपर्युक्त धर्म के एक-दो अथवा कुछ तत्त्वों को अपने आचरण में उतार ले, तो पुन: एक बार प्राचीन भारतीय सम्पदा को हम अक्षुण्ण कर सकते हैं। कर्त्तव्यपरायण समाज ही मानवाधिकारों की सुरक्षा कर सकता है और उपर्युक्त प्रतिपादित धर्म इन मानवाधिकारों का धारावाहिक स्रोतस्वरूप है।

मनु ने उपघातक प्रकरण में कहा है कि महायन्त्र प्रवर्तन उपघातक है, अत: इसका प्रवर्तन न होने दें— **'महायन्त्रप्रवर्तनम्'**[31]- किन्तु आज के मानव ने इसकी उपेक्षा की। परमाणु बम, हाइड्रोजन बम आदि वह बनाता चला गया। स्थिति यह है कि यदि इन अस्त्रों से द्वन्द्व युद्ध हो जाये, तो मनुष्य ही जीवित नहीं रहेगा। मनु की एक चेतावनी

की उपेक्षा से हम मौत के मुख तक पहुँच गये हैं । अत: अभी भी समय रहते धर्मशास्त्र प्रणींत मार्ग का अनुसरण करें, तो चरम प्राप्तव्य को प्राप्त कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त मानवाधिकार संरक्षण की बात सोचना भी स्पप्न ही होगा ।



सन्दर्भ-सूची

१. मनुस्मृति २/१०

२. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १२२

३. मनुस्मृति ६/९२

४. मनुस्मृति २/१६२

५. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय १५६

६. मनुस्मृति २/१६३

७. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय ३३४

८. मनुस्मृति २/९३

९. मनुस्मृति २/९८

१०. नारदस्मृति

११. ईशावास्योपनिषद् १

१२. मनुस्मृति ८/३२

१३. याज्ञवल्क्य, व्यवहाराध्याय २६८

१४. मनुस्मृति ५/१०९

१५. मनुस्मृति ५/१०६

१६. याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय १५-२७

१७. मनुस्मृति २/९९

१८. मनुस्मृति ६/५९, ६०, २/८८, २/९३-१०० भी द्रष्टव्य

१९. याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय ५०

२०. अष्टावक्रगीता १५/२

२१. श्रीमद्भगवद्गीता स्मृति २/६२, ६३

२२. विद्या शब्द की निरुक्ति

२३. मनुस्मृति द्वितीय अध्याय तथा याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय-ब्रह्मचारि प्रकरण द्रष्टव्य

२४. मनुस्मृति ४/१३८

२५. मनुस्मृति ४/१७५

२६. याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय १३२

२७. मनुस्मृति ६/४६

२८. मनुस्मृति २/१७७, १७८

२९. मनुस्मृति ६/४८

३०. याज्ञवल्क्य, प्रायश्चित्ताध्याय ५३

३१. मनुस्मृति ११/६३

भागवतीय वर्णाश्रम धर्म

अभ्युदय और निःश्रेयस-द्वयर्थक सिद्धि का एकमात्र साधन-'धर्म' समग्र विश्व का आधार है। सम्भवतः भगवान् वेदव्यास जी द्वारा इसीलिए श्रीमद्भागवत महापुराण का आरम्भ **'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो**[1]' के साथ और अध्यायावसान **'धर्मः कं शरणं गतः**[2]' के साथ धर्मचिन्ता में ही किया गया। इतना ही नहीं मानव धर्म, स्त्रीधर्म, यतिधर्म, मोक्षधर्म, कुलधर्म व राजधर्मादि अन्यान्य भागवतीय धर्म चर्चा के मध्य वर्णाश्रम धर्म की रूपरेखा स्पष्ट करने वाले सप्तम स्कन्ध के एकादश अध्याय में धर्मराज युधिष्ठिर भी प्रजापति ब्रह्मा के मानसपुत्र नारायण-परायण दयालु, सदाचारी, शान्त तथा धर्म के गुप्त रहस्य के यथार्थ वेत्ता नारद जी से यही प्रश्न करते हैं कि—

'भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान्विन्दते परम्।।'[3]

एकादश स्कन्ध के सप्तम अध्याय के अन्तर्गत धर्मपरायण उद्धव जी भी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से यही प्रश्न करते हुये दिखते हैं कि—

'तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत् तथा वर्णय मे प्रभो।।'[4]

फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण वर्णाश्रम धर्म का उपदेश करते हुए सर्वप्रथम वर्णाश्रम-उत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि—

'विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरूपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः।।
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षः स्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः।।'[5]

अर्थात् होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्मरूप तीन भेदों वाले यज्ञ के रूप में प्रकट मुझ विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरण से होती है । इसी विराट् पुरुष रूप में ही उरुस्थल से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थल से वानप्रस्थाश्रम तथा मस्तक से संन्यासाश्रम की उत्पत्ति हुई ।

कर्मों के अनुरूप ही वर्णों का विभाजन और आश्रमों की व्यवस्था की गयी । ध्यातव्य है कि वर्णाश्रम की उत्पत्ति कर्मरूप यज्ञ से है । गुण क्रियादि बोधार्थक वर्ण धातु से अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न इस वर्ण शब्द से अभिप्राय है कि जिससे किसी के स्वरूप, गुण या क्रिया का बोध हो, वह वर्ण है । वर्ण + घञ् प्रत्यय से निष्पन्न वर्ण शब्द विप्र आदि जाति, शुक्ल-रक्त आदि रङ्ग, गुण, रूप, भेद, अक्षर, ध्वनि, श्रेणी, वंश, आकृति, छवि, रूप, ख्याति, कीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशंसा, वेशभूषा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । अमरकोश के अनुसार—

'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्ण तु चाक्षरे' ।

वस्तुतः वर्ण शब्द तीन अर्थों में मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है— १. ब्राह्मण आदि वर्ण २. शुक्ल आदि रङ्ग और ३. स्तुति (वर्णन) में । यही वर्ण शब्द 'वर्णो वृणुते' से वरण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । 'वृ वरणे' धातु से निष्पन्न वर्ण शब्द का अर्थ भी स्वेच्छानुसार चयन करना ही है । प्रो० विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार भी वर्ण व्यवसाय चुनने से सम्बन्धित है । गाँधी जी के अनुसार-'वर्ण व्यवस्था का दर्शन कुछ प्राकृतिक नियम ही है । यह एक सहज ही क्रियाशील तथा स्वाभाविक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य उचित व्यक्ति को उचित पेशे में लगाये रखना है, क्योंकि सभी व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समान नहीं होते हैं' ।[6]

इस सम्बन्ध में प्रो० रंगास्वामी के अनुसार-कार्य विभाजन की प्रकृति पाषाण काल से ही समाज में विद्यमान थी, जो कि बाद में

वर्णव्यवस्था के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुई । अतः स्पष्ट है कि वर्ण-विभाजन पूर्णतया कर्माश्रित है ।

आङ्पूर्वक श्रम् धातु से घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'आश्रम' शब्द का भी अर्थ है - एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता हो -**'आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः'** । निरन्तर श्रम ही श्रम । प्रमाद व आलस्य के लिए कोई स्थान नहीं । आश्रम शब्द का प्रयोग प्रायः पर्णशाला, कुटिया, झोपड़ी, संन्यासियों का आवास या कक्ष (जहाँ संन्यासी लोग तपस्या करते हैं) महाविद्यालय, विद्यालय तथा जीवन की अवस्थाविशेष में किया जाता है । सम्पूर्ण मानव जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है । जीवन की इन्हीं चार अवस्थाओं-किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था को चार आश्रमों— ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम में विभक्त कर एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति जीवन पर्यन्त सचेष्ट तपोमय जीवन जीते हुए निरन्तर गतिशील बने रहने की यह सामाजिक व्यवस्था है । इस प्रकार, आश्रमों का सम्बन्ध भी कर्माश्रित ही है ।

वेदों में यत्र-तत्र प्रायः तीन आश्रमों का वर्णन मुख्य रूप से प्राप्त होता है । इनके लिए ब्रह्मचारी, गृहपति (गृहस्थ), यति (मुनि) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है । यथा - अथर्ववेद में ब्रह्मचारी **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत्**[7]' मृत्यु का निवारण भी कर सकता है । मनुस्मृति में भी- **'त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः'**-तीन ही आश्रमों की बात कही गयी है । यद्यपि आगे चलकर मनु ने संन्यासाश्रम की चर्चा भी की है । उत्तर वैदिक काल में यह विभाजन चतुर्धा स्पष्ट होने लगा था । उपनिषदों में भी आश्रम सूचक शब्दों का बहुधा प्रयोग मिलता है । स्पष्ट है कि उपनिषत्काल तक आश्रम व्यवस्था पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी ।

इसी वर्णाश्रम व्यवस्था का भागवतकार ने वर्णाश्रम धर्म के रूप में उपेदश किया । धर्म से तात्पर्य है - **'ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा ।'** धृ+मन् से निष्पन्न धर्म शब्द कर्त्तव्य, जाति -सम्प्रदाय आदि के

प्रचलित आचार के पालन का अर्थ देता है। मानव अस्तित्व के चार प्रमुख पुरुषार्थों में से यह प्रथम तथा अन्य तीन का श्रेष्ठ साधक है। कर्त्तव्य शास्त्र विहित आचरण क्रम का धर्म सम्यक् संचालक है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार इन वर्णों और आश्रमों के पुरुषों के स्वभाव भी इनके जन्मस्थानों के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हुए। यथा ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं—

'शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।

मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः।।'[8]

इसी प्रकार क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभाव हैं—

'तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।

स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः।।

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।

अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः।।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।

तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः।।'[9]

इसके अतिरिक्त चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए साधारण धर्म का उपदेश करते हुए भगवान् ने कहा कि—

'अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।

भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।।'[10]

अर्थात् मन, वाणी और शरीर से किसी की हिंसा न करें, सत्य पर दृढ़ रहें, चोरी न करें, काम-क्रोध-लोभ से बचें और जिन कामों से सभी को प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करें। इसी धर्म के भागवत में नारद जी ने युधिष्ठिर को तीस लक्षण बतायें हैं—

'सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।

--- --- --- ----

त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति।।'[11]

सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचितानुचित विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शी महात्माओं की सेवा, सांसारिक भोगचेष्टा से निवृत्ति, अभिमान जनित प्रयत्नों का विपरीतार्थक फल-विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों में अन्नादि का यथायोग्य विभाजन, समस्त प्राणियों में तथा विशेषकर मनुष्यों में अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव, भगवान् श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण । ऐसे लक्षणोपेत मनुष्य से सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

चारों वर्णों के कर्मों का विभाजन करते हुए भागवत में नारद जी युधिष्ठिर जी से कहते हैं कि जन्म और कर्म से शुद्ध द्विजों के लिए यज्ञ, अध्ययन, दान और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के विशेष कर्मों का विधान है । अध्ययन-अध्यापन, दान लेना-देना तथा यज्ञ करना-कराना ये छः कर्म मुख्य रूप से ब्राह्मण के हैं । ब्राह्मण के जीवन-निर्वाह के भी चार साधनों की चर्चा भागवत में प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है - १. वार्ता २. शालीन ३. यायावर और ४. शिलोञ्छन । इनमें से यज्ञाध्ययनादि करा कर धन लेना ही 'वार्ता' वृत्ति है । बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसी में निर्वाह करना ही 'शालीन' वृत्ति है। नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना ''यायावर'' वृत्ति कही जाती है और 'शिलोञ्छनं' वृत्ति शिल (फसल कटने के उपरान्त पृथ्वी पर पड़े हुए कण) तथा उञ्छ (बाजार में पड़े हुए अन्न के दाने) को बीनकर अपना निर्वाह करने को कहते हैं। **'सर्ववेदमयो विप्रः'** के लिए ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, और सत्यानृत आदि वृत्तियों में किसी भी वृत्ति का आश्रय लेने की छूट है, किन्तु किसी भी स्थिति में 'श्वानवृत्ति' का आश्रय नहीं लेने की बात कही गयी है । भागवत के अनुसार शिलोञ्छ वृत्ति से जीविका निर्वाह ही 'ऋत' है । शालीन वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह 'अमृत' है । यायावर वृत्ति द्वारा जीवन-यापन 'मृत' है । वार्तावृत्ति से जीवन निर्वाह 'प्रमृत' कहलाता है व वाणिज्य ही 'सत्यानृत' है । 'श्वानवृत्ति' निम्नवर्ण की सेवा करने को

कहा गया है और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों के ही लिए इस वृत्ति का निषेध किया गया है, क्योंकि क्षत्रिय (राजा) भी सर्वदेवमय कहा गया है- **'सर्वदेवमयो नृपः'**[12] । ब्राह्मण का तो लक्षण ही शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य है ।

इसी प्रकार क्षत्रिय का लक्षण भागवत में वीरता, धीरता, युद्ध में उत्साह, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणों के प्रति भक्ति, अनुग्रह तथा प्रजा की रक्षा करना आदि बताया गया है । क्षत्रिय का जीवन निर्वाह प्रजा की रक्षा करने के कारण ब्राह्मण के सिवा सबसे यथायोग्य कर तथा दण्ड (जुर्माना) आदि के द्वारा बताया गया है । आपत्तिकाल में क्षत्रिय दान लेना छोड़कर ब्राह्मण की शेष पाँचों वृत्तियों का आश्रय ले सकता है । यद्यपि भागवतकार आपत्तिकाल में सभी सब वृत्तियों का आश्रय ले सकते हैं—ऐसा भी कहते हैं—**'आपत्सु सर्वेषामपि सर्वशः'**[13] । वैश्य का लक्षण देवता, गुरु और भगवान् के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थों की रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योगशीलता तथा व्यावहारिक निपुणता आदि है । वैश्य को सदैव ब्राह्मण वंश का अनुयायी रह कर गोरक्षा, कृषि एवं व्यापार के द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए, जबकि शूद्र का धर्म द्विजातियों की सेवा करना बतलाया गया है । शूद्र की जीविका का निर्वाह उसका स्वामी करता है । शूद्र का लक्षण ही उच्च वर्णों के सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामी की निष्कपट सेवा, वेदमन्त्रों से रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ-ब्राह्मणों की रक्षा करना आदि है । यद्यपि अन्त में नारद जी कहते हैं कि—

'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्' ।।[14]

जिस पुरुष के वर्ण का जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्ण में मिले, तो उसे भी उसी वर्ण का समझ लेना चाहिए । स्पष्ट है कि कर्म की ही प्रधानता है, न कि जन्म की ।

आश्रम सम्बन्धी नियमों के पालनार्थ भगवान् का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारों के क्रम से यज्ञोपवीत संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके इन्द्रियों को वश में रखते हुए गुरुकुल में निवास करें। जब तक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाये, तब तक ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी को सब प्रकार के भोगों से दूर रहकर पवित्रता के साथ एकाग्रचित होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओं की उपासना करनी चाहिए तथा सायंकाल और प्रात:काल मौन होकर सन्ध्योपासन एवं गायत्री का जप करना चाहिए—

'अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः ।

समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ।।'[15]

किसी भी प्रकार से कभी अपना ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित न होने दें। **'सर्वदेवमयो गुरुः'** मानकर आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझें, कभी उनका तिरस्कार न करें और साधारण मनुष्य समझकर कभी दोष दृष्टि न करें—

'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।।'[16]

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियों को चाहिए कि वे स्त्रियों को देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-ठिठोली आदि करना दूर से ही त्याग दें तथा रतिक्रीड़ा[illegible] प्राणियों पर तो दृष्टिपात तक न करें—

'स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।

प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ।।'[17]

शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, समस्त प्राणियों में मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीर का संयम, अस्पृश्यों को न छूना, अभक्ष्य वस्तुओं को न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिए, उनसे न बोलना आदि नियम सभी आश्रमों से लिए एक से हैं—

'शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम् ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ।।
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुरुनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ।।'[18]

नारद जी ने धर्मराज युधिष्ठिर से भी ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन करने के लिए कहा कि ब्रह्मचारी अपने को दास के समान छोटा मानते हुए गुरु के चरणों में सुदृढ़ अनुराग रखे और उनके हित के कार्य करता रहे । गुरु जी जब बुलावें, तभी पूर्णतया अनुशासन में रहकर उनसे वेदों का स्वाध्याय करे । पाठ के प्रारम्भ तथा अन्त में चरणों में सिर रखकर प्रमाण करे । शास्त्राज्ञानुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथ में कुश धारण करे । सायंकाल और प्रातःकाल भिक्षा माँगकर लायी हुई समस्त सामग्री गुरु को समर्पित कर दे । उनकी आज्ञानुसार ही भोजन करे और यदि गुरु कभी आज्ञा न दें, तो उसे उपवास कर लेना चाहिए—

'मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
विभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ।।
सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत् ।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत् क्वचित् ।।'[19]

युवक ब्रह्मचारी को युवती गुरुपत्नियों से बाल सुलझवाना, उबटन लगवाना, शरीर मलवाना तथा स्नान करवाना आदि कार्य नहीं करवाना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ आग के समान हैं और पुरुष घी के घड़े के समान । एकान्त में तो अपनी कन्या के साथ भी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि जब तक यह जीव आत्म साक्षात्कार के द्वारा इन देह और इन्द्रियों को प्रतीतिमात्र निश्चय करके स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तब तक 'मैं पुरुष हूँ और यह स्त्री है—' यह द्वैत नहीं मिटता है और संसर्ग में रहने से उनमें भोग्य बुद्धि हो ही जाती है—

'नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ।।

कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।

द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः ।। '[20]

ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्यान्य नियमों की चर्चा करते हुए अन्त में भगवान् ने स्वयं उद्धव जी से कहा कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण के द्वारा इन नियमों का पालन करने से वह अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है । तीव्र तपस्या से उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है—

'एवं बृहद् व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।

मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ।। '[21]

ब्रह्मचार्यश्रम के पश्चात् यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की इच्छा न हो और गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो, तो अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणों से सम्पन्न कुलीन, अपने से छोटी और अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करे—

'गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।

यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात् ।। '[22]

तथा वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, काकबलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदान रूप अतिथियज्ञ आदि के द्वारा मेरे स्वरूप भूत ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियों की यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे--

'वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।

देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ।। '[23]

अनायास ही प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीति से उपार्जित अपने शुद्ध धन से गृहस्थ पुरुष अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजन आदि को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधिपूर्वक ही यजन करे । कुटुम्ब में आसक्त न होते हुए भजन में प्रमाद न करे । इस लोक व परलोक के भोग नाशवान् हैं—यह जानते हुए घर-गृहस्थी में बिना फँसे

हुए अनासक्त भाव से ऐसे रहे, जैसे कोई अतिथि निवास कर रहा हो। शरीर आदि में अहंकार और घर आदि में ममता न रखने वाले गृहस्थ को कोई बन्धन बाँध नहीं सकते । ऐसे भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मों के द्वारा मेरी आराधना करता हुआ चाहे तो घर में रहे, चाहे पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रम में चला जाये अथवा संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले—

'कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेद् ।।'[24]

वानप्रस्थ आश्रम में जाने की इच्छा वाला गृहस्थ मनुष्य चाहे तो पत्नी को पुत्रों के हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ ले कर अपनी आयु का तृतीय भाग शान्तचित्त होकर वन में पवित्र कन्द-मूल और फलों से शरीर-निर्वाह करता हुआ वस्त्र के स्थान पर वृक्ष की छाल, घास-पात और मृगछाल का ही प्रयोग करे—

'वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ।।
कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत् वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ।।'[25]

वानप्रस्थी को चाहिए कि वह ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप करके, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में वर्षा की बौछार सहकर के जाड़े के दिनों में आकण्ठ जल में डूबकर घोर तपोमय जीवन व्यतीत करे—

'ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले ।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ।।'[26]

वानप्रस्थी को जोती हुई भूमि में उत्पन्न होने वाले चावल, गेहूँ आदि अन्न तथा बिना जोते पैदा हुआ अन्न भी यदि असमय पका हो, तो उसे भी नहीं खाना चाहिए । आग से पका हुआ अथवा कच्चा अन्न भी वर्जित है । केवल सूर्य के ताप से पके हुए कन्द-मूल-फल आदि का ही सेवन करना चाहिए । अग्निहोत्र के अग्नि की रक्षा के लिए ही घर, पर्णकुटी अथवा पहाड़ी गुफा आदि का आश्रय ग्रहण करना चाहिए—

'न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।

अग्निपक्वमक्षामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ।।

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम् ।

श्रयेत हिमवाटवग्नि वर्षार्कातपषाट् स्वयम् ।।'[27]

इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अधिक तपस्या के क्लेश सहन करने से बुद्धि में विकार न आ जाये । अतः विचारवान् पुरुष को चाहिए कि वह बारह, आठ, चार, दो अथवा एक वर्ष तक ही वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का पालन करे—

'चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः ।

द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ।।'[28]

इस प्रकार निष्काम भाव से तपस्या का अनुष्ठान करते हुए जब अपने आश्रमोचित नियमों का पालन करने में असमर्थ हो जाये, वृद्धावस्था के कारण शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियों को भावना के द्वारा अपने अन्तःकरण में आरोपित कर मुझमें मन लगाकर अग्नि में प्रवेश कर लेना चाहिए—

'यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ।।'[29]

अपने-अपने कारणों में सबको लीन करते हुए अन्त में पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का अहंकार में, अहंकार का महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व का अव्यक्त में और अव्यक्त का अविनाशी परमात्मा में लय करना चाहिए। इस प्रकार अविनाशी परमात्मा के रूप में अवशिष्ट जो चिद्वस्तु है, वह आत्मा है, वह मैं हूँ - यह जानकर अद्वितीय भाव में स्थित होकर जैसे अपने आश्रय काष्ठादि के भस्म हो जाने पर अग्नि शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही स्वयं उपरत हो जाये—

'अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् ।

कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ।।

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।

ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः ।।'[30]

सप्तम स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में नारद जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि धर्मराज ! यदि वानप्रस्थी में ब्रह्मविचार का सामर्थ्य हो, तो शरीर के अतिरिक्त सबका परित्याग कर संन्यास ले लेना चाहिए तथा किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान और समय की अपेक्षा न रखते हुए एक गाँव में एक रात ही ठहरने का नियम लेकर पृथ्वी पर विचरण करना चाहिए—

'कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः ।

ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ।।'[31]

संन्यासी यदि वस्त्र पहने तो केवल कौपीन, जिससे उसके गुप्त अङ्ग ढ़क जायें और जब तक कोई आपत्ति न आये, तब तक दण्ड तथा अपने आश्रम के चिह्नों के सिवा अपनी त्यागी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण न करे । आत्मदर्शी संन्यासी सुषुप्ति और जागरण की सन्धि में अपने स्वरूप का अनुभव करे और बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही केवल माया है, वस्तुतः कुछ नहीं—ऐसा जानकर न तो अवश्यम्भावी मृत्यु का अभिनन्दन करे और न अनिश्चित जीवन का । वह तो केवल सबकी उत्पत्ति और नाश के हेतु काल की प्रतीक्षा करे -

'सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।

पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ।।

नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।

कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ।।'[32]

नेत्रों से पृथ्वी देखकर पैर रखे, कपड़े से छानकर जल पिये, मुँह से प्रत्येक बात सत्यपूत ही निकाले और शरीर से जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक सोच-विचार कर ही करे । वाणी के लिए मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिए प्राणायाम ही दण्ड है । इस दण्डत्रय के अभाव में बाँस का दण्ड धारण करने से वह दण्डी स्वामी नहीं है -

'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।

सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ।।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।

न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ।।'[33]

संन्यासी को भिक्षा अधिकतर वानप्रस्थियों के आश्रम से ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कटे हुए खेतों के दाने से बनी हुई भिक्षा शीघ्र ही चित्त को शुद्ध कर देती है, जिससे कि उसका बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है -

'वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।

संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ।।'[34]

चारों आश्रमों के धर्मों का विशद विवेचन करने के उपरान्त अन्त में भगवान् संक्षेप में चारों आश्रमों के मुख्य धर्म बतलाते हुए कहते हैं कि -

'भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईशा वनौकसः ।

गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ।।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।

गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ।।

इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यमनन्यभाक् ।

सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ।।'[35]

शान्ति और अहिंसा संन्यासी का, तपस्या और भगवद्भाव वानप्रस्थी का, प्राणियों की रक्षा और यज्ञ-याग गृहस्थ का तथा आचार्य की सेवा ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है । गृहस्थ भी केवल ऋतुकाल में ही अपनी स्त्री का सहवास करे। उसके लिए भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, सन्तोष और समस्त प्राणियों के प्रति प्रेमभाव ये मुख्य धर्म हैं । मेरी उपासना तो सभी को करनी चाहिए । इस प्रकार जो पुरुष अनन्यभाव से अपने वर्णाश्रित धर्म के द्वारा मेरी सेवा तथा समस्त प्राणियों में मेरी भावना करता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त होती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि वेदव्यास जी ने समाज के प्रत्येक वर्ग को धर्म से अथवा धर्म में अनुस्यूत कर कर्त्तव्यनिष्ठा व कर्त्तव्यपरायणता का ऐसा सन्देश दिया है, जो कि सार्वदेशिक, सार्वकालिक होने के साथ-साथ सर्वातिशायी भी है । हमारे महर्षियों ने जीवन के सर्वाङ्गीण विकास एवम् उन्नयन के लिए तथा समाज को सशक्त एवं सुदृढ़ बनाने के लिए जिस वर्णाश्रम व्यवस्था की कल्पना की थी, उसी वर्णाश्रम व्यवस्था की भागवतकार ने वर्णाश्रम धर्म के रूप में व्याख्या की । 'व्यवस्था' शब्द का अर्थ विशेष रूप से अवस्थित अथवा निर्बाध रूप से स्थिर होना है, जबकि धर्म पूर्णतया आचरण से जुड़े होने का संकेत देता है । कारण, धर्म वह है, जिसे हम धारण करते हैं और जो हमें धारण करता है। हमारे अन्त: और बाह्य दोनों को सँवारता है अथवा यूँ कहें कि लोकाभ्युदय और नि:श्रेयस् दोनों की प्राप्ति का सुगम साधन है । दूसरी ओर व्यवस्था तो मात्र कार्य के पूर्व की वह विशिष्ट अवस्था मात्र है, जिस पर कार्य की सफलता अथवा असफलता निहित होती है । प्रकारान्तर से व्यवस्था को हम कारण की संज्ञा दे सकते हैं, जबकि धर्म का सम्बन्ध कर्म से है । व्यवस्था ऐसा कारण है, जो समूचे कार्य को प्रभावित करता है । इसीलिए व्यवस्था बाह्य विषयक है जबकि धर्म पूर्णतया आन्तरिक है, जिसमें हमारी आत्मा और अन्त:करण का पूर्ण सन्निवेश होता है । व्यवस्था दोषपूर्ण भी हो सकती है, जैसी कि आजकल सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है, जबकि धर्म में दोष का कोई स्थान ही नहीं है । कारण, जहाँ दोष है, वहाँ धर्म है ही नहीं । धर्म का सीधा सम्बन्ध उन कर्मों से है, जो प्रसन्नता प्रदान करे ।

सप्तम स्कन्ध के एकादश अध्याय में नारद जी ने युधिष्ठिर को धर्म के मूल में उस कर्म को ही बतलाया है, जिससे आत्मप्रसाद की उपलब्धि हो—

'धर्ममूलं हि....... येन चात्मा प्रसीदति' ।[36]

और कर्म का इससे बढ़कर मापदण्ड और क्या हो सकता है ? ऐसा कोई भी कर्म जो आत्मा को प्रसन्नता नहीं देता है, वह धर्मसङ्गत

हो ही नहीं सकता। जो कर्म आत्मग्लानि से भर दे, वह धर्मपरायण कैसे हो सकता है ? कितना विशुद्ध एवं निष्पक्ष मानक (मापदण्ड) है कर्म को धर्ममय जानने का। कारण, आत्मा से बढ़कर और कुछ शुद्ध है ही नहीं और वह तभी प्रसन्न होगी, जब वह अपने स्वभाव में स्थित रह सकेगी। आत्मा का स्वभाव है शुचिता और शान्ति। यह तभी सम्भव है, जब कि कर्म बिना किसी उद्वेग के परहित की भावना से किये जायें। आत्मा का कोई पक्ष नहीं। सर्वथा निष्पक्ष। छद्मता अथवा प्रच्छन्नता की भी कोई गुंजाइश नहीं। ऐसी ही निष्पक्ष आत्मा की प्रसन्नता हमारे कर्मों की कसौटी है, जो कि धर्म के मूल में समाहित है। अत: वर्णाश्रम धर्म का सम्यक् पालन निश्चित रूप से अभ्युदय और नि:श्रेयस् की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।



सन्दर्भ-सूची

१. श्रीमदभागवतमहापुराण १/१/२
२. तत्रैव १/१/२३
३. तत्रैव ७/११/२
४. तत्रैव ११/१७/१
५. तत्रैव ११/१७/१३-१४
६. भारतीय समाज, आर०एन०मुखर्जी पृ० ५१
७. अथर्ववेद ११/७/१९
८. श्रीमदभाग०महापु० ११/१७/१६
९. तत्रैव ११/१७/१७-१९
१०. तत्रैव ११/१७/२१
११. तत्रैव ७/११/८-१२
१२. तत्रैव ७/११/१३-२०
१३. तत्रैव ७/११/१७
१४. तत्रैव ७/११/३५
१५. तत्रैव ११/१७/२६
१६. तत्रैव ११/१७/२७
१७. तत्रैव ११/१७/३३
१८. तत्रैव ११/१७/३४,३५
१९. तत्रैव ७/१२/४,५

२०. तत्रैव ७/१२/९,१०
२१. तत्रैव ११/१७/३६
२२. तत्रैव ११/१७/३९
२३. तत्रैव ११/१७/५०
२४. तत्रैव ११/१७/५५
२५. तत्रैव ११/१८/१,२
२६. तत्रैव ११/१८/४
२७. तत्रैव ७/१२/१८,२०
२८. तत्रैव ७/१२/२२
२९. तत्रैव ११/१८/११
३०. तत्रैव ७/१२/३०,३१
३१. तत्रैव ७/१३/१
३२. तत्रैव ७/१३/५,६
३३. तत्रैव ११/१८/१६,१७
३४. तत्रैव ११/१८/२५
३५. तत्रैव ११/१८/४२-४४
३६. तत्रैव ७/११/७

पौराणिक भूगोल में भारत

भूगोलिक एवं खगोलीय दोनों ही विषयों पर पुराणों में प्रचुर प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है । विवरण की प्रामाणिकता का परिचय नील नदी के उद्‌गम की खोज से स्पष्ट होता है, जो कि पुराणस्थ संकेतों के आधार पर ही सम्पन्न हुई थी । पृथ्वी के सप्तद्वीपों का उद्‌घोष पुराणों का निजी वैशिष्ट्य है, जिनमें से कुशद्वीप, शाकद्वीप तथा जम्बूद्वीप की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) सांगोपांग याथातथ्यात्मक है । मिस्र में प्रवाहित होने वाली अफ्रीकन नील नदी का स्रोत कप्तान स्पीक द्वारा पुराणों में वर्णित संकेतों के आधार पर ही खोजा जा सका। पुराणों में वर्णित शक देश की अवान्तर जातियों का, वहाँ के क्षीरसागर का तथा नदियों आदि का विवरण इतने स्पष्ट व विशुद्ध हैं कि यह सर्वथा कल्पनाप्रसूत न होकर अनुभूतिजन्य व यथार्थ प्रतीत होता है ।

पौराणिक भूगोल पाश्चात्त्य तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों द्वारा भी प्राय: उपेक्षित अथवा कपोलकल्पित ही समझा जाता रहा है । निरन्तर प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण यद्यपि आज का भूगोल पौराणिक भूगोल से पूरा का पूरा मेल नहीं खाता है, किन्तु पौराणिक भूगोल में भारतवर्ष के ऐश्वर्य विस्तार व माहात्म्य की झाँकी अवश्य प्रस्तुत होती है । पौराणिक विषयों में भुवनकोश भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, जिसमें समस्त भुवनों का भौगोलिक नाम, विस्तार, तथा स्वरूप वर्णन विशद रूप में प्राप्त होता है । पुराणों में भूवृत्त को समझने के लिए केन्द्रस्थानीय पर्वत मेरु को आधार बनाया गया है और समस्त पृथ्वी की कल्पना कमल के रूप में स्वीकार की गयी है । इसी कमल की कर्णिका (कमल का वह मूल मध्य भाग जहाँ से पंखुड़ियाँ निकल कर चारों ओर विकसित होती हैं) में मेरु पर्वत की स्थिति मानी गयी है । यथा—

'अव्यक्तात् पृथिवीपद्मं मेरुपर्वतकर्णिकम्' ।[1]

वायुपुराण में मेरु पर्वत प्रजापति का स्वर्णनिर्मित (हिरण्यमय) गर्भ है, जिससे निष्यन्दमान उदक समुद्र तथा शिराएँ व हड्डियाँ पर्वत हैं—

'हिरण्यमयस्तु यो मेरुस्तस्योल्बं तन्महात्मनः ।

गर्भोदकं समुद्राश्च सिराद्यस्थीनि पर्वताः ।।[2]'

कुछ ऐसा ही वर्णन कूर्मपुराण में भी प्राप्त होता है—

'मेरुरूल्बमभूत्तस्य जरायुश्चापि पर्वताः ।

गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मनः ।।'[3]

यही मेरु पर्वत मत्स्यपुराण में अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का नाभि बन्धन माना गया है—

'नाभिबन्धनसम्भूतो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।'[4]

इसी मेरु से पुराणों में महाद्वीपों की स्थिति का संकेत प्राप्त होता है, जिसके अनुसार पूर्व में भद्राश्व महाद्वीप, दक्षिण में जम्बूद्वीप, जो कि भारत वर्ष के नाम से भी पुराणों में वर्णित है, पश्चिम में केतुमाल और उत्तर में उत्तरकुरु की स्थिति है—

'स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः ।

यस्येमे चतुरो देशा नाना पार्श्वेषु संस्थिताः ।।

भद्राश्वं भारतं चैव केतुमालं च पश्चिमे ।

उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्य प्रतिश्रयाः ।।'[5]

मार्कण्डेयपुराण के ४६-५० अध्याय तक जम्बूद्वीप वर्णन में भारतवर्ष का विशद वर्णन प्राप्त होता है । इनमें से प्रत्येक महाद्वीप में एक विशिष्ट पर्वत, एक नदी, एक वृक्ष कुंज, एक झील तथा आराधना-उपासना हेतु विशिष्ट रूपधारी भगवान् की स्थिति भी बतलायी गयी है और इस प्रकार ये महाद्वीप सब प्रकार से भौगोलिक साधनों से सम्पन्न थे । जम्बूद्वीप की स्थिति मध्य में सात द्वीपों से वेष्टित है, जो कि आपस में एक-एक समुद्र के द्वारा पृथक्कृत हैं । यथा—

१. जम्बूद्वीप - क्षारसमुद्र या लवणोदधि से वेष्टित - भारतवर्ष, मध्य एशिया, उत्तरपश्चिम साइबेरिया-उत्तरचीन देशादि ।

२. प्लक्ष - (गोमेदक) द्वीप-इक्षुरस समुद्र से वेष्टित-भूमध्यसागरीय क्षेत्र, ग्रीस तथा उसके समीपस्थ भाग ।

३. शाल्मलि द्वीप - सुरा समुद्र से वेष्टित-मेडागास्कर, भूमध्यरेखा निकटस्थ अफ्रीकादेशीय भाग ।

४. कुशद्वीप - घृत समुद्र से वेष्टित-ईरान-दक्षिण पश्चिम-एशिया, ईराक व रेगिस्तानी भाग ।

५. क्रौञ्चद्वीप - दधि समुद्र से वेष्टित-कृष्णसागर का समीपस्थ भूखण्ड ।

६. शाकद्वीप - क्षीर समुद्र से वेष्टित—मलाया-श्याम-हिन्दचीन, दक्षिण चीन देशादि ।

७. पुष्कर द्वीप - सुस्वादु जल समुद्र से वेष्टित—जापान-मञ्चूरिया-दक्षिण पूर्व साइबेरिया ।

द्वीपों का यह क्रम वायु, विष्णु[6], भागवत[7], तथा मार्कण्डेय पुराण[8] के अनुसार है । मत्स्यपुराण[9] के अनुसार यह क्रम कुछ इस प्रकार है—

१. जम्बूद्वीप २. शाक ३. कुश ४. क्रौञ्च ५. शाल्मल ६. गोमेद तथा ७. पुष्करद्वीप । इनमें से जम्बूद्वीप नव वर्षों में विभक्त है, जिनकी प्रत्यभिज्ञा इनके सम्मुख दिये गये पर्वतों के आधार पर की जा सकती है—

१. उत्तर कुरु वर्ष - शृङ्गी पर्वत

२. श्वेत वर्ष - हिरण्यवान् पर्वत

३. रम्यवर्ष - नीलपर्वत

४. केतुमाल - गन्धमादन पर्वत

५. इलावृत्त वर्ष - सुमेरु पर्वत

६. भद्राश्व वर्ष - माल्यवान् पर्वत

७. हरिवर्ष - नैषधवर्ष पर्वत

८. किंपुरुष वर्ष - हेमकूट पर्वत

९. भारतवर्ष - हिमालय पर्वत

इन्हीं-नववर्ष के अन्तर्गत भारतवर्ष के बाह्य देश भी भारत की विस्तृत सीमा के अन्तर्गत परिगणित किये जाने लगे । यही भारत वर्ष भागवत पुराण के अनुसार अजनाभ[10] तथा वायुपुराण के अनुसार हैमवत वर्ष[11] के नाम से प्रख्यात था । ये दोनों ही नाम बड़े सार्थक हैं। अजनाभ का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-अज (अजन्मा भगवान् विष्णु) के नाभि-कमल पर स्थित । ब्रह्मा ने भगवान् विष्णु के नाभि कमल पर निवास करते हुए सर्वप्रथम इसी अजनाभ वर्ष नामक प्रथम लोक का निर्माण किया । इसी प्रकार हैमवत वर्ष में सीमा विभाजन करने वाला हिमवत् गिरि (हिमालय) प्रधान रूप से अवस्थित है । जिसका कालिदास ने भी वर्णन किया है (कुमार० १/१) । भौगोलिक दृष्टि से भी भारत वर्ष की उत्तरदिशा में नगाधिराज हिमालय अवस्थित है । यही भारतवर्ष आर्य जाति का मूलस्थान है, जिसका उल्लेख मनुस्मृति में महाराज मनु ने किया—

'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।'[12]

इस प्रकार मानव सभ्यता की उत्पत्ति के साथ ही भारतवर्ष की उत्पत्ति हुई अथवा यूँ कहें कि मनुष्य जाति का अविर्भाव ही सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही हुआ। भारतवर्ष नामकरण के विषय में प्रायः सभी पुराणों में ऐकमत्य है । मात्र मत्स्य पुराण में मानव जाति के आदि जनक मनु को ही प्रजाओं के भरण-पोषण व रक्षण के कारण 'भरत' संज्ञा से अभिहित कर उनके नाम पर ही भारत का नाम स्वीकार किया गया है—

'अथाहं वर्णयिष्यामि वर्षेऽस्मिन् भारते प्रजाः

भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते ।।

निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम् ।।'[13]

अन्य सभी पुराण स्वायम्भुव मुन के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के पुत्र नाभि से उत्पन्न ऋषभ के एक सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत के

नाम पर अजनाभ से परिवर्तित होकर भारतवर्ष नाम पड़ने की बात स्वीकार करते हैं । यथा भागवत महापुराण के अनुसार—

'प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।

तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ।।

अवतीर्णसुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ।

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।।

विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम् ।।[14]'

इसी पुराण में वर्णित है कि—

'भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनु शासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे–अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति ।[15]'

ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार—

'ऋषं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशतानुजः ।।[16]'

विष्णुपुराण के अनुसार भी-

'ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।

ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।[17]'

वायुपुराण और मार्कण्डेय पुराण में तो पूर्णतया समान रूप से ही वर्णन प्राप्त होता है—

'ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।

सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ।।

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।

तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।[18]'

इसी प्रकार लिङ्गपुराण, स्कन्दपुराण (माहेश्वर खण्ड-कुमारिका खण्ड) तथा ब्रह्मपुराणादि के अनुसार भी ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से ही इस भूखण्ड का भारतवर्ष नाम पड़ा । कुछ विद्वान् तथा भविष्यपुराण

के प्रतिसर्ग खण्ड में दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भी इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ, ऐसा मानते हैं—

'शकुन्तलायां तस्माच्च भरतो नाम भूपतिः ।

तस्य नाम्ना स्मृतः खण्डो भारतो नाम विश्रुतः ।।[19]'

किन्तु इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है । यद्यपि भारतवर्ष आर्यावर्त के नाम से भी जाना जाता रहा है । यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने ३०४ ईसा पूर्व लिखा था कि यहाँ के सभी आदिम निवासी आर्य के वंशधर हैं[20] । विष्णुपुराण और वायुपुराण में भी वर्णित है कि—

'उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।

वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।[21]'

भारतवर्ष का पौराणिक भूगोल स्पष्ट रूप से दो रूपों में उभर कर सामने आता है - प्रथम धनुषाकार कार्मुक संस्थान के रूप में तथा द्वितीय कच्छपाकार कूर्म संस्थान के रूप में । भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति कार्मुक संस्थान के अनुसार धनुषवत् है, जिसकी प्रत्यंचा उत्तर में हिमालय के रूप में स्थित है और दक्षिण में खींचा हुआ दण्ड विस्तार मार्कण्डेय पुराण के अनुसार द्रष्टव्य है—

'दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ।

हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणाः ।।[22]'

यह पुराण अपने ५७ वें अध्याय में कार्मुक संस्थान को ही लक्ष्य करके भारतवर्ष के सात कुल पर्वत, नदियों तथा जनपदों की विस्तृत सूची भी प्रस्तुत करता है । ठीक इसी प्रकार गरुण पुराण में अध्याय ५४ से ५७ के मध्य सात कुल पर्वतों (महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य, पारिभद्र) आदि का वर्णन प्राप्त होता है । मार्कण्डेयपुराण के समान ही ब्रह्मपुराण के २७ वें अध्याय में भी भारतवर्ष के पर्वत, नदियों तथा जातियों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है । इतना ही नहीं, अन्त में भारत की उत्कृष्ट महिमा का भी वहाँ प्रतिपादन किया गया है ।[23] पौराणिक भुवनकोशों का यही प्राचीन भूगोल कूर्म, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, वायु, वामन, अग्नि, विष्णु, ब्रह्म,

स्कन्द, गरुड़ तथा श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में उपलब्ध होता है ।[24] इन सभी के मध्य मार्कण्डेय पुराण का वर्णन सात कुलपर्वतों तथा उनसे निकलने वाली नदियों को पर्वतों से सम्बद्ध करते हुए जनपदों की नामावली सहित सम्पूर्ण भारतवर्ष को सात भागों में बाँटकर सुचारु तथा सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है—

१. मध्य देश्य २. उदीच्य ३. प्राच्य ४. दक्षिणापथ ५. अपरान्त ६. विन्ध्यपृष्ठ तथा ७. पर्वताश्रयी ।

कूर्म संस्थान कच्छप (कछुआ) के विभिन्न अंगों के सदृश भारतवर्ष को नव भागों में विभक्त करके देखता है - १. मध्यभाग २. मुख ३. पूर्व-दक्षिण पाद ४. दक्षिण कुक्षि ५. पश्चिम-दक्षिण पाद ६. पृष्ठ भाग ७. पश्चिमोत्तर पाद ८. उत्तर कुक्षि ९. पूर्वोत्तर पाद । मार्कण्डेय पुराण के ५८ वें अध्याय में कूर्म संस्थान का विवरण उपलब्ध है । इस प्रकार एक ही पुराण दोनों दृष्टियों से भारतवर्ष को उपरोक्त भागों में विभक्त करता है । कूर्मस्थानीय भारत का मुख पूर्व की ओर मानकर इसी दिक्सूत्र के सहारे अन्य अवयवों की आपेक्षिक स्थिति का निर्धारण करता है । ज्योतिषीय ग्रन्थ वराहमिहिर की बृहत्संहिता का नक्षत्र कूर्माध्याय १४ तथा नरपतिजयचर्या व पराशरादि प्रणीत ग्रन्थ इसी कूर्म संस्थानाधारित भूगोल की पुष्टि करते हैं । मत्स्य तथा मार्कण्डेय पुराणों में भारतवर्ष का नवखण्डात्मक विभाजन कुछ इन नामों के साथ वर्णित है—

'भारतस्य च वर्षस्य नव भेदान् निबोधत ।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ।।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।।[25]'

१. इन्द्रद्वीप २. कसेरु ३. ताम्रपर्ण ४. गभस्तिमान् ५. नागद्वीप ६. सौम्य ७. गन्धर्व ८. वरुण ९. भारत । सम्पूर्ण भारत इन नव खण्डों में विभक्त होकर एक विशाल भौगोलिक इकाई के रूप में स्थापित हुआ और मूल भारत कुमारिका खण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कुमारीद्वीप **(कुमारीद्वीपश्चायं नवः)**[26] कहकर सम्बोधित किया। इसे ही वामनपुराण में कुमारद्वीप की संज्ञा दी गयी—

'अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।

कुमाराख्यः परिव्याप्ता द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ।।[27]'

इन्हीं की पुनरावृत्ति मार्कण्डेय पुराण में हुई है। ये नव विभाग एक दूसरे से समुद्र के द्वारा अन्तरित (विभक्त) थे तथा जमीन के रास्ते यहाँ जाना सर्वथा असम्भव था—

'समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ।[28]'

मत्स्यपुराण के अनुसार भी—

'आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधिः ।[29]'

कुमारी प्रदेश कन्याकुमारी से आरम्भ होकर गङ्गा के प्रवाह तक फैला हुआ था। यही कारण है कि भारतवर्ष कुमारीद्वीप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह नवखण्डात्मक विभाजन गुप्तकालीन सांस्कृतिक विस्तार का परिणाम भी कहा जा सकता है। कारण, इसी युग में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का, भाषा तथा साहित्य का, धर्म तथा दर्शन का पूर्वी द्वीप समूहों में आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। कहीं-कहीं नवखण्डों के इन नामों में भिन्नता भी प्राप्त होती है। समुद्रान्तरित भारतवर्ष के आठ विभागों की वर्तमान स्थिति का संकेत कुछ इस प्रकार प्राप्त होता है[30]—

१. इन्द्रद्वीप - इन्द्रद्युम्न, अंडमान द्वीप

२. नागद्वीप - नागवर-नक्कवर-निकोबार द्वीप

३. ताम्रपर्णी - सिंहल, लंका

४. वारुण द्वीप - बोरनियो द्वीप

५. कसेरुमान - मलयद्वीप-सम्भवतः कटाह मलायाद्वीप का केडाप्रायद्वीप

६. गभस्तिमान - सम्भवतः वर्मा

७. सौम्य - सुमात्रा

८. गन्धर्वद्वीप - सम्भवतः गान्धार ।

ध्यातव्य है कि पौराणिक भूगोल में दो प्रकार के पर्वतों का उल्लेख प्राप्त होता है । १. वर्ष पर्वत २. कुल पर्वत । इनमें से वर्ष पर्वत तत्तत् वर्षों के पृथक्कर्ता सीमागिरि हैं, जबकि कुलपर्वत देशान्तरवर्ती प्रान्तों की सीमा निर्धारित करते हैं । शोधपत्र में इन दोनों ही प्रकार के पर्वतों का आधार लेकर भूगोल निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। भारत का भूगोल जानने के लिए कुल पर्वतों का ज्ञान आवश्यक है । अतः संक्षेप में कुल पर्वतों का परिचय इस प्रकार है—

'महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमान् ऋक्षवानपि ।

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च इत्येते कुलपर्वताः ।।[31]'

१. महेन्द्र- कलिंग से शुरु होने वाली पूर्वीघाट की पर्वत श्रृंखला ।

२. मलय- दक्षिण भारत का नीलगिरि पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ एक बंकिम रेखा के आकार वाली चन्दन वृक्ष की अधिकता के कारण मलयज नाम से विख्यात ।

३. सह्याद्रि- उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट की पर्वत श्रृंखला आज भी महाराष्ट्र तथा कोंकण में इसी नाम से विख्यात ।

४. शुक्तिमान्- अजन्ता तथा गोलकुण्डा का पठार सह्याद्रि पर्वत के उत्तरी छोर से कुछ पहले पूर्व की ओर बढ़ने वाली उसकी भुजाएँ ।

५. ऋक्षवान्- सतपुड़ा पहाड़ियों से आरम्भ होने वाली पर्वत श्रृंखला छोटा नागपुर की पहाड़ियों तक फैला हुआ यह पर्वत उड़ीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदियों का उद्‌गम ।

६. विन्ध्य- विन्ध्याचल पर्वत, जिसमें शोण (सोन नदी) नर्मदा, महानदी आदि नदियाँ निकलकर विभिन्न समुद्रों में प्रवाहित होती हैं ।

७. पारियात्र- अरावली पहाड़ियाँ, जिससे चर्मण्वती (चम्बल) वेत्रवती (बेतवा), पणासि (बनास), मही पार्वती आदि प्रमुख नदियाँ निकलती हैं ।

मार्कण्डेयपुराण के ५७ वें अध्याय में इसका विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है । मत्स्यपुराण का ५०वाँ अध्याय तो समग्र भारतवर्ष का ही विशद वर्णन प्रस्तुत करता है, जिसमें पर्वत, नदियाँ, जनजातियाँ, वनस्पतियाँ, खनिज पदार्थ आदि का भी विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है । संक्षिप्त रूप से पौराणिक भूगोल में भारतवर्ष का कुछ ऐसा ही चित्र उभर कर सामने आता है।



सन्दर्भ सूची

१. वायुपुराण ३४/३७, २. वायु० ५/८०
३. कूर्म० ४/४०, ४. मत्स्य० १/२/१४
५. मत्स्य० ११२/४३-४४ तथा वायु० ३४/५६-५७
६. विष्णु० २/४, ७. भागवत० ५/२०
८. मार्कण्डेय० ४६/६
९. मत्स्यपुराण १२१, १२२ (९-ए) मार्कण्डेय० ४६/९
१०. भागवत० ५/७/३, ११. वायु० ३५/५२
१२. मनुस्मृति० २/२५, १३. मत्स्य० ५०/५-६
१४. भागवत० ११/२/१५-१७,
१५. भागवत० ५/७/१-३
१६. ब्रह्माण्ड० ११२/१४/६०,
१७. विष्णु० २/१/२८-३२
१८. वायु० ३३/५१-५२- मार्कण्डेय० ५३/३९-४०
१९. भविष्य० प्रतिसर्ग ३/३३-३६

२०. एन्शिथेन्ट इण्डिया, पेज-३५

२१. विष्णुपुराण २/३/१ तथा वायुपुराण

२२. मार्कण्डेय ५७/६०,

२३. ब्रह्मा० २७/६५, ६६

२४. कूर्म० पूर्वार्ध अध्याय ४६, ब्रह्माण्ड अ० ४९, मत्स्य अ० ११२,

११४, वायु० ४५/६९/१३७, वामन०अ० १३, अग्नि०अ० ११८,

विष्णु २/३/१-२६, ब्रह्म० १९/१-२७, स्कन्द० ३९/११०-१२०,

गरुड०अ० ५४-५७ तथा श्रीमद्भागवत० ५/१६/५-६, तथा ११-१२, १८-२० तथा ५/१९/१०-२० आदि ।

२५. मत्स्य० ५०/७-९

२६. काव्यमीमांसा, राजशेखर, अ० १७

२७. वामन० १३/११ तथा १३/५७ भी दृष्टव्य

२८. मार्कण्डेय अ० ५७/५, वायु ४५/७८

२९. मत्स्य० ५०/१०

३०. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा प्रकाशन २००२, पृ० ३४०

३१. मत्स्य० ५०/१७-१८

आतङ्कवादस्य उन्मूलनार्थं महाभारते निहितशिक्षायाः उपादेयता

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।' - देवल

धर्म का यह मौलिक तत्त्व शतसाहस्त्री संहिता (महाभारत) की दृष्टि में धर्म का सर्वस्व हैं और धर्म महाभारत के कर्ण व शान्तिपर्व के अनुसार प्रजा को धारण करता है—**'धर्मो धारयते प्रजाः**[1]' - तथा **'धर्मेण विधृताः प्रजाः**[2]' । आतङ्कवाद ठीक इसके विपरीत प्रजा में भय की स्थिति उत्पन्न कर उसे भली प्रकार शान्त व स्थिर नहीं होने देता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आतङ्कवाद अपनी उचित अथवा अनुचित माँगों को मनवाने के लिए उठाया गया घोर हिंसात्मक और अमानवीय कदम है । मानव-मन में विद्यमान भय प्राय: उसे निष्क्रिय और पलायनवादी बना देता है । इसी भय का सहारा लेकर समाज का व्यवस्था-विरोधी वर्ग अपने दूषित व निम्न स्तरीय स्वार्थों की सिद्धि के लिए समाज में आतङ्क फैलाने का प्रयास करता है और इसके लिए वह हिंसात्मक साधनों का प्रयोग करने से भी नहीं चूकता । यही स्थिति आतङ्कवाद को जन्म देती है । मानवता के हन्ता ये आतङ्कवादी अपनी इस प्रकार की घृणित प्रवृत्ति से प्राय: विरोधी व्यक्ति, वर्ग, दल, समुदाय अथवा सम्प्रदाय तथा सत्ता को भयभीत कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं । ये मनुष्य के प्रेम, पुरुषार्थ, कर्मनिष्ठा व जीवन को नष्ट करने के नये-नये तरीके खोजते रहते हैं । ज्यादातर आतङ्कवाद राजसत्ताओं द्वारा प्रायोजित व पोषित होता है । यद्यपि अन्ततः वह अपने प्रायोजकों के लिए भस्मासुर ही सिद्ध होता है ।

महाभारत के युद्ध पर भी यदि हम दृष्टिपात करें, तो उसके मूल में भी आतङ्क के ही बीज दृष्टिगोचर होते हैं । दुर्योधन येन केन प्रकारेण सत्ता पर अपना अधिकार करना चाहता है और उसके लिए अधर्म व

अनीति (आतङ्कवाद) का मार्ग अपनाता है । फलस्वरूप अन्ततः नष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह है कि आतङ्कवाद निर्बाध जीवन यापन का साधन नहीं है । इसके विपरीत धर्म प्रजा के निर्बाध जीवनयापन अर्थात् जीवन धारण करने का सुगम साधन है । धर्म जहाँ एक ओर मनुष्य के आत्मिक कल्याण का साधन है, वहीं दूसरी ओर यह समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने का सूत्र भी है । महाभारत के कर्णपर्व में कहा गया है कि धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहा जाता है । धर्म ही समाज को धारण करता है । जो धारण युक्त है, वही निश्चित रूप से धर्म है—

'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः[3] ।।'

लगभग इन्हीं शब्दों में शान्ति पर्व में भी व्यास जी ने धर्म को व्याख्यायित किया है । स्मृतियाँ भी, धर्म की रक्षा करने वाले की धर्म रक्षा करता है, ऐसा उपदेश करती हैं । इसी सन्दर्भ में यदि हम मनुस्मृति प्रतिपादित **'धर्मो रक्षति रक्षितः[4]'** - के आधार पर 'धर्म' को समझने का प्रयास करें, तो रक्षक के रूप में धर्म कर्त्ता है और रक्षित के रूप में वही धर्म 'कर्म' भी है । स्पष्ट है कि प्रजा के धारण करने के अर्थ में 'धर्म' कर्ता है, किन्तु मनुष्य जब उस धर्म का धारण अथवा पालन करता है, तो वह धर्म 'कर्म' बन जाता है, जिसके विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' ।

तात्पर्य यह है कि भय से रक्षा अथवा मुक्ति दिलाने का एकमात्र साधन (उपाय) धर्म है और आतङ्कवाद भय का विस्तार ही तो है । आतङ्क का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ (आ+तङ्क+घञ्, कुत्वम्) ही भीति, त्रास, डर अथवा आशंका से है । इस भय का आमूलात् उत्खनन धर्म से ही सम्भव है, जिसकी स्थापना अपने लिए जो व्यवहार प्रतिकूल हो वह दूसरों के साथ कभी न करने से ही हो सकती है और यह उद्घोषणा प्रारम्भ में ही धर्म के सर्वस्व के रूप में की गयी है । इसके विपरीत अधर्म अर्थात् आतङ्क के विषय में महाभारत में लोमश ऋषि धर्मराज युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि—

'वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।

ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति[5] ।।'

आतङ्क (अधर्म) का विस्तार कैसे और कहाँ तक होता हैं ? अधर्मी (आतङ्कवादी) पहले अधर्म (आतङ्क) से वृद्धि को प्राप्त होता है। उसके बाद कल्याण को देखता है । इतना ही नहीं, वह अधर्म से शत्रुओं को भी जीतता है, परन्तु अन्तिम चरण तो बहुत ही महत्त्व का व ध्यान देने योग्य है कि - **'समूलस्तु विनश्यति'** - अर्थात् विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के रूप में वृद्धि को प्राप्त हुआ वह आतङ्करूपी वृक्ष अन्त में समूल (जड़ सहित) नष्ट होता है । इस प्रकार अधार्मिक अकेला स्वयं ही नष्ट नहीं होता, प्रत्युत अपने पुत्र-पौत्रादिकों के साथ सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है । यथा—कौरव, कंस व रावण आदि । एकमात्र धर्म ही आतङ्कवाद को समाप्त करने में समर्थ है, ठीक वैसे ही जैसे दीपक घने अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ होता है ।

अत: आवश्यक है कि धर्म के स्वरूप को समझा जाये, क्योंकि अन्ततः इहामुष्मिक (ऐहलौकिक तथा पारलौकिक) सुख, समृद्धि व शान्ति प्रदान करने का यही एकमात्र उपाय है । यही समाज को एक सूत्र में पिरोने वाला सार्वभौम तत्त्व है । महाभारत में धर्म की व्यापक तथा विशद कल्पना की गयी है और इसकी उद्घोषणा भी आदिपर्व में ही कर दी गयी है—**'धर्मशास्त्रमिदं महत्'**[6] । धर्म ही महाभारत का मर्म है और धर्म का मर्म मानवीयता है । वह मानवीयता, जिसके मूल में समानता और स्वतन्त्रता निहित है । जबकि आतङ्कवाद ठीक इसके विपरीत समानता और स्वतन्त्रता पर कुठाराघात है । महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध है । युधिष्ठिर धर्मराज है -**'युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः'**[7] कथा और घटनाओं के प्रसङ्गानुसार महाभारत में धर्म पर बृहद्, विचार-विमर्श हुआ है और सार्वकालिक व सार्वभौमिक धर्म की स्थापना की गयी है, जैसा कि सौति के कथन से स्पष्ट है—

'रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम्[8] ।'

शान्ति और अनुशासन पर्व में तो धर्म का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है । अनुशासन पर्व को तो धर्म का निश्चय करने वाला ही पर्व कहा गया है—

'एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम्[९] ।'

धर्म का निश्चय धर्म दृष्टि पर आधरित है, जो कि द्विविध चक्षुसम्भूत है । भौतिक विषयों से आत्माभिमुख होना धर्म दृष्टि का एक चक्षु है, तो दूसरा चक्षु है सबमें एक ही आत्मा है और सबके सुख-दुःख हमारे समान हैं, यह जानकर समानता का व्यवहार करना तथा दूसरों से प्रतिकूल व्यवहार न करना। इसी द्विविध चक्षु सन्तुलन में ही मानव समाज के कल्याण तथा आतङ्कवाद उन्मूलन का सनातन सूत्र निहित है, जिसकी उपादेयता आज की परिस्थितियों में सर्वाधिक है । द्विविध आयामी यह धर्म हमें एक तरफ आत्माभिमुखी बना कर हमारी तृष्णा, लिप्सा व राग को नियन्त्रित करता है, जो कि मूलतः अधर्म अथवा आतङ्क का जनक है और दूसरी ओर समता का भाव जगाकर हमारे अन्दर के द्वेषभाव को नियन्त्रित कर सामाजिक समरसता का वातावरण उत्पन्न करता है । इस प्रकार राग और द्वेष दोनों ही धर्म के द्वारा नियन्त्रित हो जाते हैं । किसी वस्तु के प्रति आसक्ति या राग और फिर उसकी प्राप्ति में बाधक तत्त्वों के प्रति द्वेष इसी में तो आतङ्कवाद का बीज निहित है । धर्म इसका आमूलात् उत्खनन करने में सर्वविधि समर्थ है ।

महाभारत में धर्म के निरूपण में जिस प्रकार आत्मभाव और समता को धर्म का मूल तत्त्व माना गया है, उसी प्रकार अविरोध को भी धर्म का महत्त्वपूर्ण पक्ष माना गया है । अविरोध होने पर ही धर्म वास्तव में धर्म कहा जा सकता है । अन्यथा वह धर्म नहीं कुधर्म है—

'धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।

अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम[१०] ।।'

महाभारत प्रतिपादित धर्म की यह कसौटी व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की विसंगतियों की नियामक है । वास्तविक धर्म तो वही है, जो अन्य धर्माचरणों का खण्डन न करे, दूसरों के

विरूद्ध अथवा प्रतिकूल न हो, महाभारत की दृष्टि में धर्म के तीन प्रकाशस्तम्भ हैं—

'वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः ।

शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनः[11] ।।'

परमधर्म वेदविहित, श्रुतिप्रतिपादित है । अपर धर्म स्मृतिप्रतिपादित है । वेद का विधान और स्मृतियों का धर्मनिर्देश दोनों ही शाब्दिक हैं, किन्तु अन्तिम, जिसे महाभारत सनातन धर्म की श्रेणी में परिगणित करता है, वह है सदाचार, शिष्टाचार । सदाचार धर्म की प्रत्यक्ष, साक्षात् और सजीव प्रेरणा है धर्म के यही तीन प्रमाण महाभारत को मान्य हैं । वेदों में यज्ञादि कर्मपरक विधान वर्णित है। स्मृतियाँ अर्थात् धर्मशास्त्र वर्ण और आश्रमों के व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म का वर्णन करते हैं, किन्तु सदाचार धर्म का सजीव आदर्श प्रस्तुत करता है । अहिंसा, सत्य, समता तथा दया आदि मानवीय गुण इस धर्म के उपलक्षण हैं, जोकि चारों वर्णों और चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों में चरितार्थ होते हैं । धर्म के इसी प्रकार के लक्षणों को वेद व्यास जी ने महाभारत में भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से अनेकशः निरूपित किया है । यथा भगवान् कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति—

अहिंसा शौचमक्रोधमानृशंस्यं दमः शमः ।

आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्[12] ।।

पुनश्च भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति—

'अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः ।

अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ।।

एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना ।

ब्रह्मणा देवदेवेन अयं चैव सनातनः ।।

अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि पश्यति[13] ।।'

अपि च व्यास जी द्वारा युधिष्ठिर के प्रति—

'अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।

अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम्[14] ।।'

शान्तिपर्व में ही देवस्थान ने स्वायम्भुव मनु का कथन युधिष्ठिर के प्रति भी कुछ इसी प्रकार वर्णित किया है—

'अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ।

प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलाम् ।

एवं धर्मप्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्[15] ।।'

अष्टक के पूछने पर ययाति ने राजा शिवि की धर्मपराणता को कुछ इस प्रकार बतलाया—

'दानं तपः सत्यमथापि धर्मो ह्रीः श्रीः क्षमा सोम्यमथो विधित्सा ।

राजन्नेनान्यप्रमेयाणि राज्ञः शिवेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या[१६] ।'

धर्मप्राप्ति के साधन नकुल के द्वारा शान्तिपर्व में कुछ इस प्रकार बतलाये गये हैं—

'शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।

यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः[17] ।'

श्री शौनक जी श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति के लिए जनमेजय को बतलाते हैं—

'यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते ।

पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ।

तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि[18] ।।'

यही धर्म विदुर जी के द्वारा कुछ इस रूप में निरूपित हुआ—

'इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।

अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः'[19] ।।

इसी धर्म तक पहुँचने के द्वाररूप में यक्ष ने युधिष्ठिर को बतलाया कि—

'अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः ।

द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम'[20] ।।

भीष्मपितामह ने इसी धर्म को सत्य में प्रतिष्ठापित करते हुए कहा कि—

'नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्'[21] ।

किन्तु वही भीष्म चीरहरण के समय धर्म की सूक्ष्मता के कारण विवेचन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

'न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि'[22] ।

महाभारत में धर्म को जिस अर्थ में ग्रहण किया गया है, वह धर्म सामान्य, मानवीय और नैतिक धर्म है, जो कि वर्ण, आश्रम तथा परिस्थिति विशेष के सन्दर्भों में विविध कर्त्तव्यों के रूप में चरितार्थ हुआ है । एक लाख श्लोकों के बृहद् कलेवर तथा विषयों की महत्ता के कारण ही इसका नाम महाभारत हुआ और इसमें कोई विषय ऐसा शेष नहीं रहा, जिसके लिए धर्म का प्रतिपादन न हुआ हो । तभी तो—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतवर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'[23] ।।

इस प्रकार महाभारत प्रत्येक समस्या व परिस्थिति के निराकरण का मन्त्र अपने में संजोये हुए है । आवश्यकता है तो मात्र इन पर दृष्टि डालने की और अपने अनुकूल तत्त्वों को खोज निकालने की । आतङ्कवाद के उन्मूलन का मन्त्र भी इसमें समाहित है, जो कि धर्म के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त है । इसे आचरण में उतारने की आज महती आवश्यकता है । सच्चे अर्थों में तभी महाभारत में निहित शिक्षा की आतङ्कवाद के उन्मूलन में उपादेयता सिद्ध होगी।



सन्दर्भ-सूची

१. महाभारत, कर्णपर्व ६९/५८ ।

२. शान्तिपर्व १०९/११ ।

३. कर्णपर्व ६९/५८ ।

४. मनु० ८/१५ ।

५. वनपर्व ९४/४ ।

६. आदि पर्व २/३८३, ६२/२३ ।

७. आदि पर्व १/१११ ।

८. आदि पर्व २/३३५ ।

९. आदि पर्व १/३३६ ।

१०. वनपर्व १३१/११ ।

११. अनुशासन पर्व १४१/६५ ।

१२. आश्वमेधिक पर्व, ९२ ।

१३. शान्तिपर्व १०९/१२-१३ ।

१४. शान्तिपर्व ३६/१० ।

१५. शान्तिपर्व २१/११-१२ ।

१६. आदि पर्व ९३/१९-२० ।

१७. शान्तिपर्व १२/१७ ।

१८. शान्ति पर्व १५२/७-८ ।

१९. उद्योग पर्व ३५/५६ ।

२०. वनपर्व ३१४/८ ।

२१. शान्ति पर्व १६२/२४ ।

२२. सभा पर्व ६७/४६ ।

२३. आदि पर्व ६२/५३ ।

पुस्तक परिचय

संस्कृत सुधा में लेखिका डॉ० (श्रीमती) सुधा गुप्ता ने वेद-वेदाङ्ग, दर्शन एवं पुराण-धर्मशास्त्र सम्बन्धी अपने चिन्तन मनन को मूर्तरूप दिया है । इस ग्रन्थ में वेद-वेदाङ्ग सुधा, दर्शन सुधा तथा पुराण-धर्मशास्त्र सुधा शीर्षकों के अन्तर्गत कुल इक्कीस हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में उपनिबद्ध शोधलेखों का संग्रह किया गया है ।

वैदिक वृष्टिविज्ञान, वैदिक वाङ्मय में मनस्तत्त्व, वैदिककालीन पर्यावरण में मानवजीवन तथा नगर वास्तुवीक्षण आदि आलेख वैदिक सुधा के कुछ अमृत बिन्दु हैं । दर्शन सुधा के अन्तर्गत कालिदासीय प्रत्यभिज्ञा-परिकल्पना से लेकर औपनिषद् वाङ्मीमांसा तक सभी शोधालेख तत्तत् प्रत्यभिज्ञा (पहचान) के परिणाम हैं । पुराण-धर्मशास्त्र सुधा के अन्तर्गत स्मृतियों और मानवाधिकार तथा भागवतीय वर्णाश्रम धर्म जैसे शोधलेख आज की परिस्थिति जन्म समस्याओं का समाधान स्वरूप है ।

इस प्रकार विदुषी लेखिका ने सामाजिक समस्याओं के निदान वेद-वेदाङ्गों, स्मृतियों, महापुराण तथा महाभारत में खोजने का प्रयास किया है।ISBN